सूरतें और सीरतें

लेखक
प्रो० कपिल
डी० जे० कॉलेज, मुंगेर

प्रकाशक
श्रीअजन्ता प्रेस लिमिटेड
पटना—४

प्रो० कपिल

रेखा-चित्र

चेहरे के आईने में अन्तःकरण की तस्वीर देख लो—साफ-साफ बशर्ते, आँखों की पैठ अच्छी हो, धार पैनी हो या आँखों में आईने की तरह अनुभूति का पारा सधा हो, ताकि प्रतिबिम्ब अच्छी तरह उभर सके।

फीका लाल गुलाब-सा रंग। डील-डौल निराला-जैसा, मांसपेशियाँ उभरीं, तनी चमड़ी, कसदार प्रलम्ब बाहु, पोरदार अंगुलियाँ, मस्लों से कसी चौड़ी छाती, जो बीते दिन रेणु-मण्डित फलकों पर किए गए व्यायाम और कुश्ती की ओर इशारा करती है। यानी, सम्पूर्ण बदन, मात्र लम्बी-चौड़ी काठी ही नहीं, वरन् स्वास्थ्य और अपरिमेय सौन्दर्य की दो भिन्न धाराओं की असाधारण सम्मिलन-भूमि, संगम-स्थल है। उजली खद्दर की धोती, श्वेत आजानु लम्बा कुर्ता और पैरों में काबुली चप्पल शालीनता एवं सादगी को इंगित करते। हाँ, गंगा-यमुनी कुछ पके कुछ काले लम्बे घुँघराले बालों की छूर छोर पर नई भावनाओं का दर्शन, जो निस्संदेह किसी भावुक दिल की भाव-प्रवणता अथवा भावों के एक पर एक बैठे गोल आवर्त्तों की ओर निर्देश करती हैं। चौड़ा सबल ललाट, जो निजी खूबसूरती से दपदप, जिसपर श्वेत-अरुण चन्दन की दी हुई गोल बिन्दी, मानों पूर्ण इन्दु का प्रतीक बन महादेव के अर्द्धचन्द्र से बाजी मार रही हो। नासिका पर आवर्यां शोभित लाली लिये हुए पीले फ्रेम का चश्मा, जो काम पर हावी हुए घने घुँघराले बालों में जबरदस्ती घुसता-सा प्रतीत होता, जिसके गोल ग्लासों के अन्दर छिपी हुई गंभीर आँखें......चुपचाप, मौन; मानों एकान्त में बैठकर सतरंगी दुनिया की असलियत का अध्ययन कर रही हों। और मूँछें कटी-छटीं, किन्तु सर के बालों के असदृश बिल्कुल काली! ऐसा क्यों? इसमें भी रहस्य है। सर के पके बाल वय-प्राप्त गंभीर अनुभव का दम भरते और किसी नव जवान-सी काली मूँछें

दिल की जिन्दादिली तथा अन्दर में छिपे पुरुषार्थ का प्रतिनिधित्व करतीं। पलक के प्रत्येक प्रपात में जगत् और जीवन के प्रति मौन समालोचना, कभी-कभी ताम्बूल-रंजित अधरों के बीच मुसकान की मंजुल चुनरी ओढ़े, दाड़िम-दन्त-पंक्ति आलोच्य वस्तु के गुणों की स्वीकृति भर दे देती है। भौंहों की तनी कमान, मानों हमेशा Keen observation के लिए प्रस्तुत हों, जो किसी भी आलोचक के लिए सर्वाधिक अपेक्षित गुण है। विचारों में मौलिकता, बातों में मौलिकता, आचार में मौलिकता,—गोया, मौलिकता भीतर-बाहर आँख-मिचौनी खेलती हो, जब कभी देखो, यहाँ तक कि कालेज कम्पाउण्ड में भी ईषत् मुस्कान-मंडित नजरें, तुरत बिना किसी आनाकानी के प्रत्येक अभिवादन का आयासहीन स्वाभाविक गति से उत्तर दे देतीं और पुनः क्षण में ही आलोचक की गंभीर मुद्रा उस ज्योतिर्मयी हँसी को सिनेमा की रील की तरह काटकर अपना आधिपत्य जमा लेती। अभिमान-शून्य गति, विनम्रताभाराधनत पलकें, जिसके पुण्य-दर्शन कभी मूर्ख-मंडली में, कभी क्लास में, और कभी सड़क-चौराहों की रेलमपेली में अक्सरहा हुआ करते हैं।

चेहरे में विचित्र आकर्षण, जिसने कवि आरसी की आरसी में अपना प्रतिबिम्ब यूं फेंक दिया कि उन्हें अपनी कोटा-यात्रा के संस्मरण में मुग्ध होकर लिखना पड़ा—'एक सज्जन और भी थे, जो हमारे साथ ही कोटा की यात्रा कर रहे थे और जिन्हें देखकर हम बार-बार इस भ्रम में पड़ जाते थे कि यह अपर 'दिनकर' कौन हैं? सूरत-शक्ल, हाव-भाव और बात-चीत में एक विचित्र समानता। नया आदमी देखे तो अवश्य धोखा खा जाय। और यह थे मुंगेर के प्रोफेसर कपिल। फिर तो आनन्द आ गया'। वस्तुतः यह चेहरा चुम्बक की तरह बरबस ही किसी को "एट फर्स्ट साइट" खींचकर अपने चिन्तनशील वर्तमान और उज्ज्वल भविष्य का परिचय देने लगता है।

योगी
शनिवार, १२ जनवरी, ५२

कुमार 'विमल'

निवेदन

सूरतें और सीरतें की हर सूरत और सीरत जानी-पहचानी हैं। यदि ये एकदम सच नहीं, तो सच-जैसी जरूर हैं। जीवन के दुख-दैन्य, राग-विराग आदि का जब सच्चा निदर्शन होता है तभी साहित्य जीवंत होता है। किन्तु सच की अभिव्यक्ति कलात्मक होनी चाहिए। सच सुन्दर होती ही है—यह मान लेने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि जो सहज सत्य है उसे निखार नहीं चाहिए। हर तसवीर बनानेवाला सच को ही चित्रित करता है, किन्तु अपनी तूलिका से रंग भरकर ही वह उसे सुन्दर और आकर्षक बना पाता है—और जो सुन्दर है, वह चिरकाल तक आनन्द देनेवाला होता है।

प्रस्तुत पुस्तक में जिन वास्तविक व्यक्तियों अथवा घटनाओं की प्रतिच्छाया मैं अपने मन के दर्पण में देख रहा था; उन्हीं को रंगीन रेखाओं में अंकित किया गया है। अतएव इनमें सौन्दर्य भी है और आकर्षण भी। किन्तु सत्य की अभिव्यक्ति कलात्मक हो सकी या नहीं; यह तो मेरे सहृदय पाठक ही कह सकेंगे। यहाँ मैं इतना अवश्य कह देना चाहूँगा कि इन्हें लिखते समय मैंने यह कभी भी नहीं सोचा कि ये रेखाएँ साहित्य की किस कोटि में आ सकेंगी, क्योंकि इनमें स्मरण, कहानी और शब्दचित्र, तीनों के कुछ-कुछ तत्त्व आ गये हैं। सुतरां यह मधुर मिश्रण क्या कहा जायगा—मैं स्वयं नहीं कहना चाहूँगा। हाँ, इतना जरूर कह सकता हूँ कि इन्हें पढ़ने में रस मिलेगा और आनन्द आयगा। और, यदि ऐसा हुआ तो मुझे सन्तोष होगा।

वैशाखी पूर्णिमा
२०१०

—कपिल

विषय-सूची

—:o:—

सेवालाल

सेवालाल उसी गाँव में रहते हैं, जहाँ मेरा निवास है। मेरे वर्ग तथा मेरी उम्र के प्रायः सभी व्यक्ति उन्हें सेवालाल बाबा ही कहा करते हैं। बाबा की कमर कुछ झुकी हुई, माथा घुटा हुआ और मूँछें कुछ-कुछ बेतरतीब-सी हैं। दाँत भी प्रायः खैनी खाते-खाते झड़ गये हैं, जो शेष हैं, वे भी प्रायः झड़ने को तैयार हैं। किन्तु उन्होंने भविष्य में झड़नेवाले दाँतों की सुरक्षा के लिए चूना देकर खैनी खाना एकदम छोड़ दिया है। जो भी हो, पर वे स्वस्थ हैं, मजबूत हैं। उनके चार भाई थे, चारों बलिष्ठ, चारों खटनेवाले। संभवतः गाँव के जमींदार ने, जो एक महन्थ हैं, इसीलिए उन्हें अपने यहाँ डेढ़ रुपये प्रतिमास पर नौकर रख लिया है—नौकरी गीली नहीं, सूखी है। देश में यद्यपि वस्तुओं की बढ़ती हुई कीमत के कारण सर्वत्र हड़ताल का हाहाकार मचा हुआ है तथापि महँगी या अकाली का प्रश्न न तो कभी बाबा की ओर से उठा है और न श्री महन्थजी ने ही इस प्रश्न को उठने दिया है। महन्थजी की ओर

से यदि यह प्रश्न नहीं उठता है तो इसमें कोई अस्वाभाविकता नहीं समझनी चाहिए। इसीलिए 'संतोषात् जायते परमं सुखम्' बाबा के आचार-व्यवहार में भी बैठ गया है। द्रव्याभाव के कारण ही, बाबा के हृदय का शृंगार-स्रोत भी प्रायः सूख-सा गया है। वे अपने-आप में ही संपूर्ण हैं—अर्द्धांगिनी के अभाव में उन्हें जीवन के मधुर एवं कोमल पक्ष का कोई अनुभव नहीं हो सका और अब जबकि वे अधेड़ हो गये हैं, उन्हें भविष्य की भी कोई स्वर्णिम कल्पना नहीं है।

सेवालाल बाबा के जीवन में एक चीज बड़ी सराहनीय है—वह है उनकी हिम्मत। वे स्टेशन से बारह बजे रात को भी घर चले आते हैं—पुल पर रहनेवाली कुम्हारिन उन्हें डरा नहीं सकती, बड़ियाही गाछी में रहनेवाले भूत उन्हें धमका नहीं सकते, पीपल के गाछ पर रहनेवाली डाकिनी को भी—जो बहुधा भैसों के चरवाहों से खैनी माँगा करती है—बाबा के निकट फटकने की हिम्मत नहीं। लोगों का कहना है कि वे कारूदास के फुलहसिया हैं, इसीलिए भूत तो क्या 'किचिन' भी उनके निकट नहीं आ सकती। इन्हीं कारणों से गाँव की स्त्रियों में उनकी बड़ी धाक है।

गाँव के भोज में बाबा चूल्हे पर चढ़ी सभी हाँड़ियों का निरीक्षण बड़ी निपुणता से कर लेते हैं—चाहे किसी का भी भोज हो, बाबा की तत्परतापूर्ण सहायता के बिना उसका भोज सफल ही नहीं हो सकता। ऐसे अवसरों पर उनकी अनुपस्थिति बिरादरी के सभी लोगों को खटकती है।

यदि उनके जीवन को ठीक से देखा जाय तो हर कोई यह अनुभव कर सकता है कि वे सच्चे अर्थ में बंधु हैं। बंधु तो वही है जिसके जीवन में यह श्लोक चरितार्थ हो सके—

उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः॥

बाबा केवल उत्सव में ही साथ नहीं रहते, वे श्मशान में भी पूरी हमदर्दी तथा पूरी मुस्तैदी से साथ देते पाये जाते हैं। मैंने तो उन्हें वैसे समय में श्मशान की यात्रा करते देखा है, जब हर आदमी हिम्मत हार बैठा है। वर्षा की झड़ी में भी श्मशान-यात्रा के समय मैंने उन्हें लोड लेते देखा है। मुर्दे को जलाने का 'टेकनीक' (कौशल) भी उन्हें खूब मालूम है। जबतक लाश जलकर भस्म न हो जाती, तबतक वे चिता की लपटों तथा ज्वालाओं से जूझते रहते हैं—चिता की लपट उनके मुँह पर आ जाती है। उनका मुँह रक्ताभ हो जाता है, किन्तु वे अपनी जगह से डिगते नहीं, हटते नहीं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उनके हृदय में ममता नहीं, दिल में दर्द नहीं।

उनके ममता-भरे हृदय को उबलते, उनके दर्द-भरे दिल को टूक-टूक होते मैंने उस दिन देखा जिस दिन उनके दो प्रिय भाइयों की मृत्यु हुई थी। सेवालाल बाबा पछाड़ खा रहे थे, आँखों से आँसुओं की झड़ी लगी हुई थी, वे लाल-लाल हो गई थीं, पलकें सूज गई थीं।

लोगों ने उन्हें बहुत समझाया, आश्वासन और धीरज दिया। काल की कठोरता की बातें कही गईं, विधि के विधान बताये गये, पर उनका क्रन्दन ज्यों-का-त्यों रहा। लोग श्मशान जाने की तैयारी करने लगे और बाबा की आँखों के आँसू तबतक सूख चुके थे; वे चुप थे।

—:o:—

गोसाईं बाबू

यों तो लोग उन्हें गोसाईं बाबू ही कहते हैं, किन्तु नाम कुछ और ही है। पर उनका गोसाईं बाबू नाम ही क्यों है? शायद उनकी वेश-भूषा, आचार-व्यवहार, रहन-सहन, चाल-ढाल तथा बातचीत के कारण यही अधिक उपयुक्त जँचता है। फिर भी, कुछ लोग उन्हें रामदास, तो कुछ छीपो आदि भी कह कर पुकारा करते हैं। साफ धोती, साफ कुरता, साफ गमछी तथा पंपशू उनके शरीर के आभूषण हैं। माथे के केश कुछ-कुछ उड़ चुके हैं, फिर भी, कंघी उसमें नित्य पड़ती है; ललाट पर रामानन्दी चन्दन का शृंगार दोनों शाम नियमित रूप से देखने को मिलता है—यही हैं गोसाईं बाबू!

गोसाईं बाबू अपने बचपन में घर के सारे लाड़-प्यार के अधिकारी थे, दुलारू बाबू थे, फिर भी पढ़ने-लिखने की जन्मजात प्रवृत्ति उन्हें भगवान् की ओर से ही मिली थी! आज भी वे लिखते तो हैं शायद मजदूरों का हिसाब अथवा समय-समय पर कुटुम्बियों को पत्र ही, पर पढ़ते बहुत हैं—सुखसागर, भक्तमाल, गीता, मानस,

महाभारत, दुर्गा आदि उनके प्रिय ग्रंथ हैं और वे अभी भी इन ग्रंथों से लिपटे हुए हैं। दशहरे में दुर्गा, रामनवमी में मानस का नवाह आदि उनकी चर्या के विषय हैं। इन पुस्तकों के अतिरिक्त उन्हें संगीत से काफी दिलचस्पी रही है—गीत भी गा लेते हैं, राग-रागिनी के नाम लेकर अपनी संद्रिल अवस्था में आलाप भी लगा लेते हैं, तबला के बोल भी कम याद नहीं हैं, किन्तु गानेवालों का साथ ठीक वक्त पर छोड़ देना उनके लिए साधारण-सी बात है, चाहे गायक की रागिनी विकलांग ही क्यों न हो जाय। संगत के समय उन्हें ताल की ध्वनिमात्र का केवल इतना ही ज्ञान रहता है कि वे कुछ-न-कुछ अवश्य बजा रहे हैं। फलस्वरूप समय-समय पर अकाल के सम पर ही मस्तक हिलाकर लज्जा-मिश्रित हास का उन्हें एक अभिनव अनुभव होता रहा है। इतना सब-कुछ होने पर भी यदि गाँव में कहीं नटुआ नाच रहा हो, वहाँ आप उन्हें अवश्य देख लेंगे, कहीं नाटक हो रहा हो तो वहाँ भी उन्हें पा लेना कठिन नहीं। बारात में वेश्याओं के निकट, सत्यनारायण की पूजा में कीर्तन वालों के निकट— गाँव में जहाँ-कहीं भी तबला, मृदंग या ढोलक की आवाज सुनाई पड़ेगी वे वहाँ निश्चित रूप से उपस्थित रहेंगे— हनुमानजी की भाँति रामकथा श्रवण में जितनी तत्परता होनी चाहिए, उतनी ही तत्परता संगीत-श्रवण में उनमें है। ध्वनि का यह विकट आकर्षण उनके जीवन का एक विशेष अंग बन गया है।

गोसाईं बाबू गाँव के अच्छे गृहस्थों में हैं। दरवाजे पर गाय, बैल, भैंस, क्या नहीं? सब-कुछ हैं; किन्तु इनकी सारी व्यवस्थाएँ

कुछ-न-कुछ अव्यवस्थाओं के साथ हैं। इन अव्यवस्थाओं के पीछे उनके विचार से कुछ-न-कुछ ठोस तर्क ही है। इसीलिए दूसरों की सलाहों पर वे कभी भी कुछ नहीं विचारते। कभी-कभी तो अपने व्याख्यान-योग के अवसर पर, अपनी विस्तृत अनुभूतियों के बल पर खूब बोल लेते हैं; किन्तु उसमें भी शृंखला का अभाव रहता ही है, जो उनके स्वभाव के अनुकूल भी है।

पंडितों के बीच भी वे चुप रहने का संयम नहीं कर सकते—भरी सभा में 'राम' शब्द की व्युत्पत्ति पूछकर कई बार उन्होंने ज्योतिष के आचार्यों को लज्जित कर दिया है। कभी-कभी जब मूड में रहे तो धर्मभीरु होने पर भी "अहल्या, द्रौपदी, तारा, कुन्ती, मंदोदरी तथा" वाले श्लोक को मिथ्या कहकर उसकी तीव्र आलोचना भी कर बैठते हैं। उनके विचार से ये पाँचों कन्याएँ भ्रष्टा हैं। प्रभात में इनके नामोच्चारण से कल्याण तो कभी भी नहीं, कष्ट ही होने की विशेष संभावना है—ऐसा उनका विचार है। कभी तो गाँधीजी के प्रति अटूट श्रद्धा के भाव व्यक्त करते हैं तो कभी उन्हें बनियाँ समझकर श्रद्धेय या स्तुत्य भी नहीं समझना चाहते। काँग्रेसियों से उन्हें नफरत है, वे सबको चोर समझते हैं, किन्तु धोती आदि की परमिट दिलाने पर किसी खास काँग्रेसी की वे दिल खोलकर प्रशंसा भी करते हैं। इसमें संदेह नहीं कि उसी व्यक्ति की निन्दा वे थोड़ी ही देर बाद उसी मस्ती में कर बैठते हैं।

बाबू को कुछ खास चीजों से खासा इश्क भी है; जैसे सोनपुर के मेले से। वे प्रतिवर्ष सोनपुर जायँगे ही—गायों, बैलों और घोड़ों

को देखने के साथ-साथ वे गौर से रावटी में बैठी वेश्याओं (जिन्हें वे गन्धर्व कहा करते हैं) को भी देखते हैं ; जी में आया तो कहीं बैठकर एक-दो ठुमरी या गजल भी सुन लिया। काशी की सुप्रसिद्ध गायिका स्व० काशीबाई की दरबारी 'मुहम्मद शाह के दरबार' की ध्वनि की गूँज आज भी उनके मस्तिष्क में ज्यों-की-त्यों है। सोनपुर के वार्षिक यात्री होने के कारण गाय-बैल की खरीद-बिक्री का पूरा-पूरा अनुभव उन्हें प्राप्त हो गया है। गाँव में गाय खरीदने में उनकी बड़ी प्रशंसा है। वे बहुधा सस्ते में अच्छी चीज खरीद लिया करते हैं। अतएव, उनको अपनी खरीद-बिक्री के ज्ञान पर पूरा भरोसा भी है। पर प्रायः बैल आदि की खरीद परिवारवालों के विचार के विरुद्ध ही किया करते हैं। घरवाले उन्हें पागल समझते हैं और वे घरवालों को ही मूर्ख या नासमझ कहा करते हैं। इसमें संदेह नहीं कि विशेष अवसरों पर घरवाले ही सही राह पर रहा करते हैं। सही को सही समझना गोसाईं बाबू के स्वभाव के प्रतिकूल रहा है।

खान-पान के व्यसनों के सम्बन्ध में कुछ लिखे बिना उनके स्वभाव का पूरा-पूरा विश्लेषण नहीं हो सकता। खाने में रसगुल्ले उन्हें बड़े प्रिय हैं। पूर्णिमा आदि के अवसर पर गंगा-स्नान के मेले में जो वे जाया करते हैं; उसके पीछे छोटेलाल के रसगुल्ले का ही प्रबल आकर्षण रहा करता है। यों तो होली और सावन के झूले में मूड बनाने के लिए भाँग और गाँजा भी पी लिया करते हैं, किन्तु बीड़ी, खैनी और इलायची के बिना वे रह नहीं सकते।

उनकी जेब इन चीजों का भंडार है। पता नहीं, उनकी जेब कभी खाली भी होती है या उसमें 'राकस' की टीक है जिसके प्रभाव से वह जेब सदैव पूर्ण रहा करती है। मेरी बच्ची उन्हें 'इलैंचियाबाबा' ही कहा करती है। उनकी अव्यवस्थित उदारता के कारण ही लोग उनसे इलायची, बीड़ी या खैनी ले-लेकर औरों को दान दिया करते हैं और मन-ही-मन उनको ठग लेने पर हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव किया करते हैं। पर उन्हें इसकी कोई खबर नहीं। सच तो यह है कि वे चलते-फिरते चिन्तनशील दार्शनिक हैं। 'हित अनहित पशु-पक्षी जाना' का सिद्धान्त यद्यपि उनकी जिह्वा पर ही है, किन्तु हित-अनहित की बातें वे समझ नहीं पाते। उनकी स्थिति राजनीति-विज्ञान के उन पंडितों-जैसी है जो हर संघर्ष में हार खा जाते हैं।

गोसाईं बाबू सारे गाँव में बड़े प्रिय हैं। ऊँच-नीच का भेद-भाव उन्हें छू तक नहीं सका है। यही कारण है कि उन्नत वर्ग के रईसों के साथ बैठकर भी उन्हें उतना ही आनन्द मिलता है जितना छियालाल धोबी की गोड़ी पर बैठकर। छियालाल के पड़ोसी प्रायः निम्नवर्ग के ही लोग हैं जो गोड़ी के चारों ओर बैठकर उन्हें घेर लिया करते हैं और वे उस गोष्ठी में पूरा प्रवचन किया करते हैं।

वास्तव में गोसाईं बाबू बड़े उदार, बड़े कोमल, बड़े सरल तथा बड़े ही विनोदप्रिय व्यक्ति हैं। उन्हें साधुओं की संगति कुछ इतनी प्यारी है कि उन्होंने स्वयं एक मंदिर भी बनवा लिया है जहाँ बैठकर आप गाना-बजाना से लेकर गीता तक का अभ्यास किया करते

हैं। इस निरंतर एवं अखण्ड अभ्यास के कारण गीता के अनेक श्लोक, मानस की असंख्य चौपाइयाँ उनकी जीभ पर हैं।

पर इन दिनों उनके ललाट पर चिन्ता की रेखाएँ स्पष्ट दीख पड़ने लगी हैं। पारिवारिक जीवन की दुश्चिन्ताओं ने उनके सुखों के मेरुदण्ड को तोड़ना प्रारम्भ कर दिया है। अतीत के रोमांस की याद उनके हृदय में रह-रहकर हूक पैदा कर दिया करती है और वे खिन्न हो जाया करते हैं। परिवार के भी सारे कार्य चल तो जाते हैं, किन्तु अव्यवस्थाओं के चक्रव्यूह से निकल भागने का दाव-पेंच उन्हें ज्ञात नहीं। फलस्वरूप मुक्ति की प्रत्येक चेष्टा उन्हें जाल में ही फँसाती है, निकालती नहीं। उनको प्यार से बाबाजी या चाचाजी कहनेवाले गाँव के कुछ सम्पन्न, पर स्वार्थी लोग उन्हें व्यूह के बंधन में दिन-दिन बँधते देख विशेष प्रसन्नता का अनुभव किया करते हैं, पर वे उन्हें आत्मीय समझते हैं, भाई और चाचा कहते हैं। दिन-प्रतिदिन गिरते जाने पर भी उनकी मैत्री के स्वच्छ भाव को संदेह की मलिन छाया अभी तक छू नहीं सकी है—आगे क्या होगा? कौन कहे!

—:o:—

बाबू साहब का हाथी

बाबू साहब को अपने बेटे के विवाह में एक हाथी मिला था। जब उसका प्रथम शुभागमन उनके दरवाजे पर हुआ था तब गाँव के लोगों की भीड़ इकट्ठी हो गई थी और एक-एक व्यक्ति के कंठ से उसकी प्रशंसा के शब्द निकलने लगे थे। वास्तव में हाथी का वह कोमल बच्चा बड़ा ही प्रिय एवं आकर्षक था। देहात में जिसके दरवाजे पर हाथी रहता है उसको लोग लक्ष्मीपात्र समझते हैं। बाबू साहब की लक्ष्मीपात्रता में अब किसी को भी क्या सन्देह हो सकता था? क्योंकि विशाल पैतृक सम्पत्ति तो उनके पास थी ही—अब हाथी भी दरवाजे पर झूलने लगा।

प्रारम्भ में इस हाथी का खूब मान-सम्मान हुआ। नवजात शिशु की देख-रेख के लिए जिस तरह निपुण दाई की जरूरत होती है, ठीक उसी तरह उस हाथी की देख-रेख के लिए अनुभवी महावत की जरूरत पड़ी। खोज-ढूँढ़कर करीम खाँ निकाले गये। करीम

खाँ की देख-रेख में वह बच्चा धीरे-धीरे बढ़ने लगा। उसके भोजन की संतोषजनक व्यवस्था की गई--खिचड़ी, दाना, धान, ऊख आदि किसी भी पौष्टिक पदार्थ का अभाव उसे नहीं खल सका। खलता भी कैसे, जबकि बाबू साहब ने जीवन में प्रथम बार दरवाजे पर हाथी बँधवाया था? गाँव-गाँव से हाथी की मँगनी की चिट्ठियाँ पाकर उन्हें हर्ष होता और वे जी खोलकर लोगों की बारातों की शोभा बढ़ाने के लिए मँगनी दिया करते थे; क्योंकि उन दिनों उसपर एक ही व्यक्ति की सवारी हो सकती थी। यों तो बाबू साहब स्वयं बहुधा टमटम पर ही चढ़ा करते थे, किन्तु इन्क्वायरी आदि के अवसर पर गजारूढ़ होकर चलना अब उन्हें अधिक भाता था। अतिथियों को स्टेशन पहुँचाने की बात होती तो वे झट से हाथी ही कसवा दिया करते थे—चढ़नेवाले को प्रसन्नता होती थी और उन्हें एक संतोष होता था।

आज से कुछ दिन पूर्व, जब अपने चचेरे भाई से बाबू साहब ने सम्पत्ति का बँटवारा किया था तब हाथी उन्हीं के हिस्से में पड़ा था। हाथी को अपने हिस्से में लेने के लिए उन्होंने अपनी बलवती इच्छा भी प्रकट की थी। उनकी यह इच्छा युक्तियुक्त ही थी, क्योंकि यह हाथी केवल हाथी ही नहीं था, किन्तु वह उनके बेटे के तिलक का धन एवं यश का प्रतीक—एक मांगलिक उपहार था। किन्तु हाथी के लिए वह दिन दुर्भाग्य का था जिस दिन वह बाबू साहब के हिस्से में पड़ा। दुर्भाग्य इसलिए कि किसी के प्रति प्यार के भाव में बाबू साहब का आर्थिक स्वार्थ भी कहीं-न-कहीं छिपा होता

था। इन्हीं दिनों उस हाथी की आँखें खराब होने लगीं और औषधि के लिए पैसों की आवश्यकता पड़ने लगी। बाबू साहब ने एक-दो बार करार-ब्योंत कर पैसे तो दिये, पर पीछे उन्होंने नेत्रदान का पुण्य लूटना नहीं चाहा। पैसों के प्रति उनका मोह बड़ा प्रबल एवं दुर्दान्त था। उनकी यह निश्चित धारणा सी हो गई थी कि पैसों की कीमत आदमी के प्राण से अधिक है और जीवन के अन्तिम कार्यों में पैसों को छोड़कर कोई भी सहायक नहीं हो सकेगा, यही वे मानते थे।

फलस्वरूप हाथी की आँखें संरक्षक की उदासीनता एवं उपेक्षा के कारण फूट गईं··फूटी आँखों का पानी बह-बहकर उसकी मर्मान्तक पीड़ा जीवन-पर्यन्त व्यक्त करता रहा। उतनी बड़ी विशाल काया और आँखें नहीं! किन्तु यह बाबू साहब नहीं समझते थे। बेचारा अन्धा हाथी चलने के क्रम में ठोकरें खाता, गिरता, झुकता हुआ भी अपने कठोर मालिक को ढोता रहा। यही नहीं, उसकी नेत्रविहीनता उसके प्रति उदासीनता का बहाना बन गई। मालिक ने उसे उसके महावत को सिपुर्द कर शान्ति की साँस ली। हाथी तो रहा ही, जिम्मेदारी से भी छुट्टी मिली। पीछे तो कुछ ऐसा हो गया कि मालिक का प्रत्येक कार्य उसके शेष सुखों पर आघात पहुँचाने लगा। धान की जगह भूसों की डलियाँ उसके जीवन-यापन का सहारा बन गईं। उसके निवास के घर में घास-पात भर दिये गये। माघ महीने की प्रचंड बरसाती झपसी में, जबकि लोग

'बोरसी' और 'घूरे' का सेवन करने पर भी काँपते रहते थे, वह बेचारा अपनी किस्मत का रोना रोता हुआ सात-सात दिनों तक उदार एवं कृपालु मालिक के गुण, व्यथित शब्दों में, गाता दिगम्बरवत् ठिठुरता-काँपता रह जाता, पर स्वप्न में भी उसके मालिक के मन में यह नहीं आता कि यह पशुओं के प्रति अत्याचार है। जो मनुष्य पर अत्याचार करता या मनुष्य पर होते अत्याचारों को देखकर सह सकता है उसे पशुओं के प्रति किये गये अत्याचारों से क्या पीड़ा हो सकती है?

उस हाथी के लिए सबसे अधिक दुर्भाग्य की बात तो यह हुई कि बाबू साहब अपने परिवार के अन्य सदस्यों पर अविश्वास करते थे एवं असंख्य शंकाओं से आवृत्त उनका मस्तिष्क प्रतिपल-प्रतिक्षण अपने स्वार्थों की सुरक्षा एवं इच्छाओं की पूर्त्ति के लिए मकड़ी का जाला बुना करता था। दुर्भाग्य से परिवार के अन्य सभी व्यक्तियों को हाथी की दर्दनाक स्थिति से चिन्ता होती थी और बाबू साहब को उस स्नेहशील चिन्ता को आँच देकर जलाने में मजा आता था। अतएव उस भयंकर जाल का पहला शिकार वह विशाल, किन्तु निरीह हाथी हुआ जो बहुधा मालिक को देखकर हर्षातिरेक में सूँड़ उठाकर अभिवादन किया करता था। पशुओं का प्रभु-प्रेम आदमी के प्रेम से विशेष निश्छल, निष्कपट एवं टिकाऊ हुआ करता है न? और तो और, उसके अंतिम दिनों में करीम खाँ की जगह पर जो महावत उसे पथप्रदर्शक के रूप में मिला, वह तो एकदम 'द्वितीय कृतान्त' निकला! मालिक यदि एक तो वह सवा, सेलिया सात तो

कुम्हरा बैताल। मालिक उसके वेतन, कपड़ों आदि में कतर-ब्योंत करते, तो वह हाथी के शरीर से ही द्रव्य निकालने का प्रयास करता। बारात में मिलनेवाली खुराक बाजार में बेचकर वह बीड़ी से धुँआ निकालता, पर एक दाना भी हाथी को नसीब नहीं होने देता। मालिक और महावत की इस होड़ में बेचारे हाथी का पेट सदैव हाहाकार करता रह जाता। हाथी के इसी हाहाकार की चर्चा कवि रहीम ने एक पद में यों की है—

बड़े पेट को भरन में, बड़ी वस्तु की चाहि।
ताते हाथी हहरि कै, दियो दाँत द्वै काढ़ि॥

इसी बेचारगी और हाहाकार की स्थिति में उस हाथी ने एक दिन बहुत-सी मिट्टी खा ली। मिट्टी खाने की चीज हर्गिज नहीं है—यदि रही होती तो यशोदा श्रीकृष्ण के मुँह से ब्रज की सोंधी मिट्टी नहीं उगलवातीं। मिट्टी ने पेट में जाकर विष का काम किया और मालिक ने दवा में पैसे खर्च करना पैसों का अपव्यय समझा तथा अपनी हार समझी। औषधि की प्रतीक्षा में विष अपना प्रसार नहीं रोकता। फलस्वरूप, एक ही दिन बाद मालिक के घर से कुछ दूर, जबकि वह एक बारात की शोभा बढ़ाने गया था, हाथी ने दम तोड़ दिया। जो कभी बाबूसाहब के दरवाजे का शृंगार और उनकी लक्ष्मी का साकार रूप बनकर आया था, वह एक विशाल खोखाड़ के रूप में वहाँ पड़ा था। मरने के पहले इतना भी उसमें दम नहीं था कि चीत्कार कर सके; किन्तु उसके प्रदूषित श्वास

से एक अजीब कराह-सी निकल रही थी और उसकी फूटी आखों से बहुत देर तक अश्रुप्रवाह जारी था। यातनाओं से मुक्ति ही तो जीव का चरम लक्ष्य है। किन्तु उसकी मृत्यु से उसके हमदर्दों को चोट लगी— बारात के आनन्द में भी कितनों की आँखें गीली हुईं! पर मालिक को उसके मौन सेवक का यह दयनीय महाप्रयाण छू सका था नहीं, कहा नहीं जा सकता!

—:०:—

एक वैरागी

आज से साठ वर्ष पूर्व मेरे गाँव में एक वैरागी बाबा पधारे थे—उनका नाम कल्याणदास था। बाबाजी मँझले कद के, बड़ी घनी दाढ़ी और बेतरतीब मूँछवाले, श्यामवर्ण के, हृष्टपुष्ट एवं बँधे हुए वैरागी थे। वे माखनचोर गोपालजी के भक्त थे और उन्हें अपनी ठाकुरबाड़ी के उस गोपालजी की मूर्त्ति से अत्यधिक स्नेह था जो घुटनों के बल बैठे, एक हाथ में माखन की एक गोली लिये हुए हैं। वह गोपालजी आज भी ठाकुरबाड़ी में उसी मुद्रा में अवस्थित हैं, किन्तु कल्याणदास अब वहाँ नहीं रहे। उनका देहान्त हो गया—वे गोलोक चले गये होंगे या कहाँ होंगे, कहना कठिन है।

बाबाजी अपनी भरी जवानी में रमता योगी की तरह घूमते-फिरते काठियावाड़ से आये और उसी गाँव में सब दिन के लिए रह गये। कहा नहीं जा सकता कि वे वहाँ कैसे आये और वहीं क्यों रम गये? हरि-इच्छा प्रबल। गाँव के लोगों को उनके तेजस्वी व्यक्तित्व ने बड़ा प्रभावित किया और वहाँ के श्रद्धालु तथा

छल-छन्दहीन ग्रामीण उन्हें एक असाधारण साधु समझकर उनके सन्निकट आ गये। गाँव में अभी भी साधु-संतों के प्रति बड़ा विश्वास भाव है, और साधु महाराज, आज से अर्द्ध शती पूर्व, वहाँ जब पहले-पहल पधारे होंगे तब उस समय सचमुच लोगों ने उन्हें बड़ा सम्मान दिया होगा, उस सम्मान का अन्दाज आज के युग में नहीं लगाया जा सकता जबकि देहात के लोग भी पूरे प्रवीण और धूर्त होने लग गये हैं।

बाबाजी गाँजा खूब पीते थे—चिलम भी स्वर्णजटित था और मेरा अन्दाज है, उसमें डेढ़-दो भर से कम गाँजा नहीं अँटता होगा। गाँव में खरीदकर गाँजा पीनेवाले तो कम ही लोग थे, किन्तु परमुंडे पीनेवालों की संख्या बहुत थी। अतएव, उन परमुंडे फुक्कड़ों ने बाबाजी को घेर लिया और उनके प्रति अपार श्रद्धा दिखलाकर यह सिद्ध कर दिया कि वे उनके अनन्य भक्त हैं। बाबाजी ऐसे प्रचंड पियक्कड़ थे कि वे शीघ्र-ही पियक्कड़ों के सरदार हो गये और गाँव के गँजेड़ियों पर उनका एक विचित्र एवं विलक्षण रोब छा गया। उनके व्यापक प्रभाव के कारण गाँव में नये-नये गजेड़ियों का भी जन्म हुआ जो अब खन्नास पियक्कड़ हो गये हैं। सारे गजेड़ी बाबाजी के प्रशंसक एवं प्रचारक बन गये और उनका कीर्त्ति-सौरभ दिन-प्रति-दिन फैलने लगा।

इन्हीं लोगों के कारण बाबाजी के प्रति गाँव की स्त्रियों का विश्वास बढ़ने लगा और धीरे-धीरे उनकी आस्था भी जम गई। फिर तो बहुत-से घरों से बाबाजी के पास सीधा-पानी पहुँचने लगे और

प्रतिदान में आशीर्वाद-स्वरूप बाबाजी की ओर से अमरूद, सतालू आदि के प्रसाद घर-घर भेजे जाने लगे।

जब वे पहले-पहल उस गाँव में आये थे तब उनके साथ कुछ दिनों के लिए उनका एक शिष्य भी था, जो डीलडौल एवं बल में पूरा पहलवान था। गाँव के छुटभैये नौजवान कसरतियों ने उसको अपनी गोष्ठी में खींच लिया और इस तरह गाँव में तीन-चार अखाड़े खुल गये—कुश्तियाँ होने लगीं। बाबाजी का निवास गाँव के पास ही बाहर एक कुटी में था जहाँ वे अपने गोपालजी एवं शिष्य के साथ रहा करते थे। उनकी उस कुटी के सामने चौबीस घंटे एक धुनी जलती रहती थी, धूप-दीप के अतिरिक्त गाँजे के लिए भी वह धुनी अत्यन्त उपयोगी थी। फलस्वरूप बाबाजी का वह विरामहीन यज्ञ दिन-रात चलता रहता था। उषा की लालिमा के आगमन के पूर्व ही बाबाजी नहा-धोकर गोपालजी की पूजा कर लिया करते थे और पश्चात् उसी धुनी के आगे पपनियों को बंद कर हजारा माला फेरा करते थे। किन्तु बंद पपनियों के बीच से उनकी पुतलियाँ आनेवालों का प्रति-बिम्ब अवश्य ग्रहण कर लिया करती थीं। माला फेरनेवाले असंख्य ध्यानी भक्तों की पुतलियाँ इसी तरह चमका करती हैं, यद्यपि भक्ति-मार्ग में ध्यान की एकाग्रता के लिए ही माला-जाप का विधान है। माला जप लेने के बाद वे एक पोथी बाँचते थे—बाँच तो वे सारी पोथी क्षणों में ही जाते थे, किन्तु थे एकदम निरक्षर भट्टाचार्य और संभवतः इसीलिए पोथी इतनी जल्द समाप्त हो जाया करती थी।

बाबाजी गाँव से बाहर यों तो कभी नहीं जाते थे, पर वर्ष में एक बार तीर्थाटन के लिए जरूर निकलते थे। गाँव के लोगों को यद्यपि यह ठीक-ठीक ज्ञात नहीं होता कि वे कहाँ जाया करते हैं, किन्तु लौटने पर ऐसा लगता था कि वे तीर्थ नहीं, बल्कि ढाका जाया करते हैं। ढाका से वे रुपये, अधकट्टी सुपारी और सेर-दो सेर गाँजा जरूर लाते। सुपारी तो बाबुओं को उपहार-स्वरूप दिया करते थे, गाँजा भक्तों के बीच फूँक देते थे तथा रुपये अपने श्रद्धालु जरूरतमंद सेवकों को दिया करते थे। उनके असंख्य रुपये वैसे ही भक्तों के यहाँ रह गये और उन्हें स्वयं संसार से चला जाना पड़ा। इन श्रद्धालु भक्तों ने बाबाजी के श्राद्ध में भी कुछ नहीं दिया—बाबाजी की आँखें भी नहीं रह गई थीं जो उन्हें कुछ शरम होती।

वैरागी बाबा संसार से तो चले गये, किन्तु गाँव को एक ठाकुरबाड़ी और एक कुँआ दान-स्वरूप देते गये। उनका कुँआ आज भी गाँव का सर्वश्रेष्ठ कुँआ है। कहा जाता है कि उस कुँए को उन्होंने बिना किसी बेलदार और मजदूर के ही स्वयं अपने पहलवान शिष्य के साथ खोद डाला था। उनका कुँआ आज भी उनके पराक्रम एवं बल का साक्षी है जिसपर संस्कृत में उनकी एक प्रशस्ति लिखी हुई है—समूचा श्लोक तो मुझे याद नहीं, किन्तु उसकी पहली पंक्ति यों है—

'कृत: कल्याणदासेन रक्षितश्च सुबुद्धिना।'

इसीलिए गाँव के बुजुर्ग आजतक उस कुँए की कहानी कहते

समय बाबाजी के साहस, धैर्य एवं उत्साह की भूरि-भूरि प्रशंसा किया करते हैं। सचमुच बाबाजी खूब थे!

उनके सम्बन्ध में कई कथाएं आज भी प्रचलित हैं जिनमें गोपालजी को दण्ड देनेवाली बात अत्यन्त विख्यात है। कहा जाता है कि गाँव में एक बार बड़े जोरों की महामारी फैली थी—रोज-रोज असंख्य व्यक्ति मरने लगे। मोहन भगत की जगहिया माता से कुछ नहीं बन पड़ा, रामसहाय भगत भी कुछ नहीं कर सके—जीवू भगत के कालिदास भी लोगों की हिफाजत के लायक अपने को सिद्ध नहीं कर सके। ब्राह्मणों को खीर-पूरी खिलाई गई, किन्तु परिणाम कुछ नहीं हुआ। भगवती को पाठें चढ़ाये गये, पर बिगड़ी बात बिगड़ती ही गई—बनी नहीं, सँभली नहीं। गाँव के प्रत्येक घर के द्वार पर महावीरजी की स्तुति लिखकर चिपकाई गई, पर हालत जस-की-तस। गाँव के लोग संबलहीन हो गये—विपत्ति में ईश्वर ही सहारा होता है, किन्तु उनकी अकृपा एवं उदासीनता के कारण गाँव का एक-एक व्यक्ति व्याकुल हो उठा, बेचैन हो उठा। प्राण का भय सबसे बड़ा भय है, सबसे बड़ा मोह भी। लोगों की उद्विग्नता ने बाबाजी को भी उद्विग्न कर दिया। उन्हें अपने बाल गोपाल पर बड़ा रोष चढ़ा—जिसके प्रति उन्हें अगाध श्रद्धा थी, अपार स्नेह था। अतएव, उसी रोष में गोपाल के गले में फँसरी लगाकर उसे गड़े हुए एक लम्बे बाँस में टाँग दिया तथा गोपाल को संबोधित कर अपना रोष यों प्रकट करने लगे—"सालो! तुम्हारे रहते यदि गाँव बर्बाद हुआ तो मैं तुम्हें फाँसी दे दूँगा, तुम्हारी जान

ले लूँगा"—पर बाबाजी का प्रस्तर गोपाल एकदम चुप रहा—भला बोलता भी क्या, वह निर्जीव प्रस्तर-खंड! गोपाल के प्रति अखंड स्नेह के कारण बाबाजी यह कैसे समझते कि उस प्रस्तर में प्राण नहीं है—उसको फाँसी क्या दी जायगी! भावुकता जब चढ़ाव पर होती है तब विवेक के बन्धन ढीले हो जाते हैं। बाबाजी गोपाल के भावुक भक्त थे, अतएव विवेक से काम लेना उनकी सामर्थ्य के बाहर की बात थी। जो भी हो, किन्तु बाबाजी के इस त्राटक-नाटक के बाद महामारी बन्द हो गई—उन्होंने टँगे हुए गोपाल को नीचे उतारा—उसकी आरती उतारी, भोग लगाया, प्रसाद बाँटा—फिर तो गाँव के लोगों की जान में जान आई। अब तो गाँव के लोगों ने बाबाजी को बिल्कुल अवतार मान लिया और उस दिन से वे पहले की अपेक्षा कहीं अधिक पूज्य एवं सम्मान्य समझे जाने लगे। विपत्ति से बचानेवाले के प्रति स्नेह और श्रद्धा का होना स्वाभाविक ही है।

उनके इसी पराक्रम से प्रभावित होकर गाँव की एक समृद्ध एवं आस्तिक विधवा ने उन्हें एक पक्की ठाकुरबाड़ी बनवा दी तथा व्यवस्था के लिए थोड़ी जमीन भी दे दी। काठियावाड़ के वह रमते साधु अब पूरा महंथ बन गये। महंथ बनने पर महंथी का ताब भी उनपर चढ़ गया। स्वस्थ, सुस्वादु एवं पुष्ट भोजन ने उनमें नित-नवीन प्रेरणा भरना प्रारम्भ कर दिया—रात ढलते-ढलते वे बदन में मरोड़ का अनुभव करने लगे;—उन्हें अँगोठी आने लगी। ऐसी स्थिति में उन्हें शुश्रूषा की आवश्यकता महसूस हुई। यों

तो गाँजा फूँकनेवाले उनके असंख्य दास थे, किन्तु रात भर साथ रहकर दर्द की अनुभूति और अभिव्यक्ति सुननेवाला कोई नहीं था। अतएव, सब-कुछ रहते हुए भी नशे की मरीचिका में वे किसी अभाव के कारण चिन्तित रहने लगे। पर उनकी चिन्ता शीघ्र ही दूर हो गई जब पास की ही रहनेवाली एक दाई ने बाबाजी की चिन्ता-मुक्ति का भार उठा लिया। उन्हें दाई क्या मिली, विश्वामित्र को मेनका मिल गई! दाई ने सेवा प्रारंभ कर दी-- बाबाजी का दर्द कमता गया। नारी के मृदुल स्पर्श ने उनकी सोई हुई भावनाओं को कुरेद दिया, उनकी दबी हुई इच्छाओं को उभाड़ दिया। दबी हुई इच्छाएँ जब बाहर निकलने लगती हैं तब उनका बहाव अपरिमित हो जाता है। दासी के हाथों के प्रत्येक चाप पर वे पुलकित होने लगे, उनका रोम-रोम कंटकित होने लगा। चिर उपेक्षा के बाद उनका अनंग अंगी हो गया।

बाबजी ने उन्हीं दिनों से बागवानी में दिलचस्पी रखना शुरू कर दिया था। उन्होंने अपने बाहुबल से ठाकुरबाड़ी के इर्द-गिर्द ठाकुर के भोग-राग एवं प्रसाद के लिए आम, अमरूद तथा लीची के बहुत-से पेड़ लगाये। बाबाजी हर पेड़ को अपनी संतान समझते थे अतएव उन्हें प्रत्येक पेड़ के प्रति एक स्वाभाविक आकर्षण एवं मोह हो गया था। इसीलिए जब कोई चोरी से फल तोड़ता तब वे उस पर सिंह की तरह झपटते थे और वह यदि पकड़ा जाता तो उसकी छाती पर बैठकर उसे खैनी से काटने को प्रस्तुत हो जाते थे। बाबाजी का यह रूप बड़ा ही भीषण और दुर्दान्त था---उस मुद्रा

में वे साक्षात् कृतान्त दीखते थे। उनके इस रूप से गांव का संपूर्ण शिशु-समुदाय आतंकित रहा करता था। 'सालो' की आवाज सुनते ही भगदड़ मच जाती थी। ऐसा प्रतीत होता था, मानों पक्षियों के झुंड पर कोई बाज आ झपटा हो। किन्तु उन्हें उन चोरों पर, उनकी शरारतों पर इतना गुस्सा इसलिए होता था कि वे ठाकुरजी के प्रत्येक दर्शनार्थी को कुछ-न-कुछ प्रसाद अवश्य देते थे—चाहे वह बूढ़ा हो या जवान या बच्चा। अतएव, 'प्रौपर चैनेल' से नहीं आनेवालों पर उनका गुस्सा स्वाभाविक ही था।

उनका गुस्सा पौराणिक दुर्वासा के कोप से कम नहीं था। इसी गुस्से के कारण एक बार गांव के एक बलिष्ठ व्यक्ति से मल्लयुद्ध हो गया था जिसमें उनकी जटा उखड़ गई थी। जटा के उखड़ने पर तो उनका कोप पराकाष्ठा पर पहुँच गया और उन्होंने उसी क्षण उस व्यक्ति को अभिशापित किया। यह सच है कि बाबाजी का अभिशाप उसके सर पर चढ़कर बोला—कम-से-कम लोगों का विश्वास तो यही है। इसीलिए बाबाजी के पराक्रम की चर्चा करते समय उस अभिशाप की चर्चा जरूर होती है, और इसके बाद अन्य साधु-संतों की अलौकिक करतूतों पर विचार होने लगता है—एक-से-एक चमत्कारक करतूत की कहानी चल पड़ती है। बाबाजी अपने अभिशाप के फल जाने की बात सुनकर भीतर-ही-भीतर फूलने लगे और उनका पारा चढ़ा ही रहा। उनके क्रोध की मात्रा तब और अधिक बढ़ी जब कजलो पर फिसल जाने के कारण उनकी एक टाँग टूट गई और वे लंग मारने लगे। उनका लंगड़ा होना उनके लिए

बड़ा कष्टप्रद हुआ, किन्तु शिशु-समुदाय में इस घटना से बड़ी प्रसन्नता हुई—समुदाय के एक-एक सदस्य को संतोष हुआ, हर्ष हुआ। लंगड़े कल्याण दास चोरों को देख तो लेते थे, किन्तु दौड़कर पकड़ पाने की क्षमता उनमें अब नहीं रह गई थी—इसलिए उन्हें गुस्सा पीना पड़ता था, मसोस कर रह जाना पड़ता था, मूँछें फड़ककर गिर जाती थीं। बलिष्ठ व्यक्ति जब शरीर से दुर्बल होकर विवश हो जाता है तब उसे अपने पौरुष किंवा पराक्रमपूर्ण अतीत की याद और अधिक सताती है—'ते हि नो दिवसा गता:'।

धीरे-धीरे बाबाजी क्षीण होते गये, विकलांग तो हो ही गये थे। फिर भी, जबतक उनके शरीर में शक्ति रही और जवानी के कारण नसें तनी हुई रहीं, तबतक तो वे स्वस्थ भाव से चलते-फिरते रहे और उनकी इच्छाएँ भी पूर्ण होती रहीं, पर "ज्यों-ज्यों पड़े अवस्था, त्यों-त्यों सहे शरीर" के सिद्धान्तानुसार, पीछे वे थक गये और आय भी उनकी घट गई। फलस्वरूप, उनका अखाड़ा छिन्न-भिन्न हो गया। लोग उनकी ओर से उदासीन हो गये। स्थान-स्थान पर दासी का नाम लेकर उनपर छींटे कसे जाने लगे। उनका आतंक भी क्षीण पड़ गया। मृत्यु से कुछ दिन पूर्व तो उन्हें मल-मूत्र पर भी नियंत्रण नहीं रहा— शिष्य ने पहले ही साथ छोड़ दिया था— बाबाजी बेकाम पड़ गये—बुढ़ापे ने उन्हें एकदम तोड़ दिया, झकझोर दिया। जब बुढ़ापा अंगों में कंपन लेकर आता है तब नैष्ठिकों की निष्ठा भी छूट जाती है और शरीर व्याधिमंदिर हो जाता है। रुग्ण बाबाजी ने एक दिन प्रात:काल अपनी उसी धुनी के निकट (जहाँ से माता

फेरते थे) आपने प्राण त्याग दिये। बाबाजी की मृत्यु की खबर उस गाँव से संबंध रखनेवाले प्रत्येक गाँव में फैल गई---क्षणभर में यह खबर घर-घर पहुँच गई। उनके शव को जुलूस में गंगा-तट पहुँचाया गया। किसी शिष्य के अभाव में वैरागियों की प्रथा के अनुसार गले में घड़ा बाँधकर उन्हें डुबा दिया गया, पर बाबा का शव डूबकर पुनः ऊपर आ गया। बहुत देर तक उनका शव गंगा की धारा में अधोमुख होकर भँसता रहा—पानी के जीव उस शव को उकसाते रहे और फिर कुछ क्षणों के बाद शव दर्शकों की आँखों से ओझल हो गया।

वैरागी बाबाजी अब नहीं रहे, किन्तु उनकी स्मृतियाँ गाँव की कहानियाँ बन गई हैं।

—:o:—

रजिया

गाँव भर में उस दिन कोलाहल था। रात में जगह-ब-जगह कानाफूसी चल रही थी। जमींदार के कारिन्दे टोले-टोले, घर-घर जाकर गवाह फुसला रहे थे। उनके सिपाही तथा नौकर-चाकर दारोगाजी की खिदमत में लगे थे। कुछ लोग उनके साथ आये चार-पाँच बन्दूकदार सिपाहियों को चीनी, बीड़ी खिला-पिला रहे थे। पर जमींदार एक ही चिन्ता में डूबा था कि किसी तरह सारे खलिहान पर १४४ लग जाय। इसके लिए दारोगा को मुँहमाँगा देने को तैयार था—फिर भी ५००) से अधिक वह नहीं देना चाहता था। दारोगाजी स्वयं रुपये-पैसे की बात तो किसी से नहीं करते थे, पर उनका एक दलाल था। वह दलाल कहने को तो अपने को गाँधीजी का स्वयंसेवक ही कहा करता था; लेकिन था भारी धूर्त, झूठा और बेईमान। गाँधीजी की छाया की छाया का भी संस्पर्श पाने योग्य वह नहीं था। घूस के रुपये इस हाथ से लेकर उस हाथ में देते-देते उसकी हस्तरेखाएँ घिस गई थीं, फिर भी वह बाज नहीं

आता था। दारोगा और मुद्दई के बीच वह उपहती मध्यम कड़ी का काम करती थी। लोग उससे घबराते थे, डरते थे, फिर भी साक्षात्कार होने पर नमस्कार कर ही लेते थे। बड़ा जिलदागा था वह। उसने जमींदार के साथ सात सौ पर बात पक्की की और दारोगा को साढ़े पाँच सौ पर राजी कर लिया। ये दोनों परस्पर एक दूसरे को भारी बेईमान समझते हुए भी खूब घुले-मिले थे। 'बर्ड्स आफ दी सेम फेदर्स' थे वे।

दूसरे दिन प्रात: में दारोगाजी ने मुद्दई और मुद्दालह, दोनों से सादे कागज पर सही करवाया और खलिहान पर १४४ लगाकर चलते बने। पर खलिहान की रखवाली के लिए तीन सिपाहियों को छोड़ते गये। सिपाहियों के लिए देहात में १४४ की तैनाती से बढ़कर कोई धंधा न था, न है। ये तीनों डटकर भैंस के गाढ़े दूध के साथ घी लगी रोटियाँ खाते, गाँजा पीते, खलिहान की रखवाली करने लगे—बड़े मौज में। मौज का कारण भी तो था! सौभाग्य से मुद्दई और मुद्दालह, दोनों ही पूरी जायदादवाले थे, इसलिए इन्हें दुतरफा सत्कार मिलता था। सिपाहियों का प्रयास यह था कि वे दोनों ओर से पूजा पायें, इसलिए ये दोनों ओर के लगुए-भिड़ुए, मजदूर, मजदूरिन को आँटिये की चोरी में कुछ छूट देने लगे। फिर भी, मजदूरिनें शाम में, गदहबेले में, लुक-छिपकर ही आती थीं। स्त्री होने के कारण खलिहान में पड़े कागड़धत्त-जैसे तीन मुस्टंडों को देखकर डरना स्वाभाविक था। सिपाहियों के तीन महीनों के खलिहान-निवास में दो-चार पकड़ा भी गई थीं—जिनका स्पर्श-

सुख पाने के लिए उन्होंने पीछे से उन्हें भर पाँज पकड़ लिया था। दो-एक के साथ तो इस धर-पकड़ में इनके स्नेह भी बढ़ गये थे।

लेकिन एक दिन झिलगिल साँझ को अकेली रजिया पकड़ी गई।

रजिया की शादी तो हो गई थी, पर गौना नहीं हो सका था। वह उभर कर पुष्ट हो रही थी। गाँव में उसको देखकर पी जानेवाले लोग भी थे। यह संयोग की ही बात थी कि वह खलिहान में तीसी के कुछ डाँटों के लोभ में आ गई। उसे कल पूर्णिमा के मेले में राजघाट जाना था। कुछ तीसी के दाने हो जाते तो वह जरा सजकर पाटी काढ़कर जाती—बस यही इरादा था। जिस सिपाही ने उसे पकड़ा था, वह परीशान दीख रहा था। उसकी जीभ सूख रही थी, ललाट से पसीना छूट रहा था, मुँह तमतमाकर लाल हो आया था, जैसे ज्वर चढ़ आया हो और रजिया उसके बाहु-पाश से कसमसा कर निकल जाने की बेहद कोशिश में थी—पर उसे गिर जाना पड़ा—शैतान ने उसे घूँसे मारकर गिरा दिया—वह चीखकर बेहोश हो गई, लेकिन वहाँ आता कौन ? उसी सिपाही के दो मौसेरे भाई आये—इनकी आँखें छः हो गईं। फिर तो ये तीनों ही, एक के बाद एक पशु की तरह उसपर टूट पड़े। प्रातः में उसकी लाश खलिहानवाले गढ़े में देखी गई। सारे गाँव में यह खबर बिजली की तरह फैल गई। इन सिपाहियों ने गाँव के चौकीदार को मेल में लाकर दो-चार लोगों को जमींदार पर आरोप लगाने के लिए ठीक

कर लिया—उसी जमीन्दार पर, जिसके यहाँ वे तीन महीनों से दुग्ध-पान कर रहे थे।

दारोगाजी फिर आये। उनका दलाल भी साथ आया। दो सिपाही भी आये। वे तीनों तो थे ही। सबने जमीन्दार का अन्न-जल ग्रहण किया, हजार से लेकर सौ तक की विदाई पाई, जमीन्दार की जान बची, सरकारी इन्साफ हो गया; पर रजिया अमौत मर गई—बेचारी!!

—:o:—

डाक्टर साहब

डाक्टर साहब जब पहले-पहल कालेज में प्राध्यापक नियुक्त होकर आये, तब लगा कि कोई आया है—दम-खमवाला ! पर उन्होंने जिस मुहल्ले में डेरा लिया, वह शहर के एक छोर पर था—इसलिए जब उन्होंने गेट पर साइनबोर्ड लगवाया तब अहले सुबह रोज उनके दरवाजे पर भीड़ लगने लगी। मुहल्ले के लोगों ने होमियोपैथी या एलोपैथी का डाक्टर समझ लिया। वे क्या जानें कि कौन-सा भाष्य लिखकर उन्हें डाक्टर की उपाधि मिली है ? वे डाक्टर का सीधा अर्थ डाक्टर जानते थे, वैद्य नहीं। डाक्टर साहब यह भीड़ देखकर झल्लाये, गुस्साये, मुसकाये भी। मुसकाये लोगों की नासमझी पर या गँवारूपन पर। उन्होंने यूरोप में ऐसे गँवार नहीं देखे थे। कॉलेज में भी उन्हें लोगों ने विचित्र दृष्टियों से देखा—कोई उनकी टाई की चर्चा करता तो कोई पैंट की, कोई उनकी चाल पर हँसता तो कोई उनके वाणी-विलास पर रीझता। बाहर से आने के कारण उनमें एक विचित्र आदत आ गई थी—वह थी पोज देने

की। उनका हर पोज़ यह अवश्य स्पष्ट कर देता था कि वह विदेश में सीखा गया है—बात-बात में जर्मनी और लंडन का 'रामनामा जाप' जरूर कर दिया करते थे—इसलिए उनके पोज़ों का रहस्य सहज अनुमेय हो गया। डाक्टर साहब के दर्शन हमें भी हुए थे। उन्हें देखकर हमें Black more की Lorna Doone की याद हो आई। उस उपन्यास का नायक John Reed राजा से आमंत्रण पाकर लंडन गया था, राजा से भेंट भी की थी। पर जब वह लौटकर घर आया तब उसको घेरकर लोग इकट्ठे हो गये—कुछ सुनने, कुछ देखने और कुछ जानने। John Reed ने भाषण देना शुरू किया। भाषण के बीच-बीच में उसने एक-दो बार खखार दिया। फिर तो लोग यह कहने लगे कि इस तरह खाँसना उसने स्वयं 'किंग' से सीखा है। डाक्टर साहब चाहे John Reed नहीं हों, पर यहाँ के लोग वहाँ के लोगों जैसे ही प्रतीत होते हैं। जब वे विदेश से लौटकर कॉलेज आये थे, उस समय विलायती प्रोफेसरों को छोड़कर और कोई विदेश से घूमकर न आया था, इसलिए इन डाक्टर महोदय को छात्र भी घूर-घूर कर देखते। किन्तु डाक्टर साहब पर इन मर्मभेदिनी दृष्टियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे आज भी विषुवत् रेखा की तरह सम-सीमा में हैं। अब तो उसी कॉलेज में डाक्टर पर डाक्टर हैं, पर कौन उनके समान है, आकर देख लीजिए!

डाक्टर साहब शिक्षक भी अपने ढंग के निराले थे—विलक्षण, विचक्षण। कहते हैं, वे किसी भी साल एक पुस्तक से एक संपूर्ण अध्याय नहीं पढ़ा सके—प्रारम्भ में ही विषय की गहनता एवं गंभी-

रता पर मुग्ध हो अंततः रस लेने लगते थे। उनके छात्र उनकी भंगिमाएँ देख-देखकर आह्लादित होते और उनका चपरासी पीठ के पीछे खड़ा होकर माथा ठोंकता। सबसे बड़ी खूबी उनमें यह थी कि वस्तु को बिना 'लंडनाइज' किये वे ग्रहण ही नहीं करते, इसलिए उनमें यह आस्था जम गई थी कि उन-सा बड़ा विद्वान दूसरा कोई नहीं था—एक थे भी तो दिवंगत हो गये। वे चलते भी थे दार्शनिक के पोज में—आँखें धरती में गड़ाए, पर उनकी पुतलियाँ इतनी तेज अगल-बगल भी दौड़ती थीं कि डाक्टर साहब यह अवश्य समझ जाते कि राह में उनके किस छात्र ने प्रणाम किया, किसने नहीं? उनकी प्रसन्नता पा लेना कठिन काम था। फिर भी, प्रतिवर्ष एक-दो ऐसे छात्र निकल ही आते, जिनपर वे अवढर शंकर की तरह कृपा करते।

कॉलेजों में प्रायः सभी विषयों से संबद्ध एक-एक 'सोसाइटी' रहा करती है। डाक्टर साहब जिस विषय के अध्यापक थे, उसकी भी एक 'सोसाइटी' थी। संयोग से डाक्टर साहब उसके प्रेसिडेंट भी हो गये थे। उनकी सोसाइटी का हाल भी अजब होता। उत्सवों में कुछ-न-कुछ करामात वे दिखला ही देते। बाहर के आमंत्रित विद्वान् भी उनके भाषण-योग से नमस्कृत होकर ही लौटते। अध्यक्षपद पर बैठ जाने के बाद बाग-बाग वे सिर घुमाकर ऊपर-नीचे देखते रहते। कभी अपनी कलाई की घड़ी देखते तो कभी पीठ-पीछे सिर की ऊँचाई पर टँगी दीवालघड़ी को देखते। समय देखने में सावधानी वे जरूर रखते, पर समयानुकूल वे कभी हो नहीं पाते। ऐसी विडम्बना के बीच वे दिन-रात रहते। 'सोसाइटी' के मंत्री से जब उन्हें

कोई जरूरत होती तो वे नाम से हर्गिज नहीं पुकारते--'मंत्रीजी' ही कहा करते और क्लास में अलबत्ता उनका नाम ले लेते थे। व्यक्ति को ऐसी निकृष्ट रेखाओं में बाँटकर देखने के वे आदी बन गये थे। यांत्रिक अधिक और बौद्धिक कम हो जाने से भी व्यक्तित्व का एक बेढब विकास ही संभव है। एक बार संयोग से उनकी सोसाइटी की मंत्री एक लड़की हो गई। डाक्टर साहब कई दिनों तक सोचते रह गये कि वह स्टेशन जाकर कैसे बाहर के अतिथियों का स्वागत कर सकेगी, उसे क्या संकोच नहीं होगा? इस मामले में यहां का गँवारूपन यद्यपि उनके लंदन पर चढ़ गया था पर वे इस बात से समझौता नहीं कर सकते थे। वे अजीब जीव थे, अनन्वय अलंकार थे--'भारत को सम भारत है'। और चाहे जो हो, पर उनके छात्र यह विश्वास रखते थे कि बिना तर्क के डाक्टर साहब के लिए एक कदम भी चलना कठिन था। यह ठीक भी था, क्योंकि लिखते समय रोशनी आँख के बायें या दायें रहनी चाहिए--दायाल किधर रहनी चाहिए, Keep to the left कितनी सख्ती से मानना चाहिए, बाजार में जब रेजगारियाँ नहीं मिल रही हों तब कैसे इस समस्या का हल होना चाहिए आदि हमेशा सोचते ही रहते।

एक बार इस देश में रेजगारियों का भयंकर अभाव हुआ, रुपये भुनवाना एक कठिन काम हो गया था। डाक्टर साहब के छात्रों ने उनसे समाधान मांगा। डाक्टर साहब बहुत आहिस्ते-आहिस्ते रहस्य बतलाने लगे। उन्होंने कहा--किसी से

कहिएगा नहीं, नहीं तो आगे कुछ नहीं कहूंगा। आपको अचरज होगा—उन्होंने कहा, 'एक रिक्शे पर बिना किराया ठीक किये बैठ जाइए और गंतव्य स्थान पर पहुंच जाइए तो रिक्शेवाले के हाथ में नोट थमा दीजिए। अब बेचारे को उसे रेजगारियाँ देनी पड़ेंगी।' लड़के विस्मय विमुग्ध हो गये।

इन डाक्टर साहब के इस विचक्षण ज्ञान को देखकर लोग उनके ज्ञान-भण्डार पर मन्त्रमुग्ध थे। थे भी वे चमत्कारक! उस समय कालेज में यह शोहरत थी कि उनकी 'डायरी' अलादीन का चिराग है। बिना उसका पारायण किये डाक्टर साहब का दिन ही शुरू नहीं होता। हर साल के लिए वे डायरी खरीदकर देख लिया करते। भानुमती की पिटारी भी डाक्टर साहब की डायरी के आगे लज्जित थी। उसमें रोड नम्बर, क्वार्टर नम्बर, रेडियो नम्बर, घड़ी नम्बर, फोन नम्बर, कार नम्बर से लेकर रोल नम्बर तक लिखा रहता और डाक्टर साहब हर नये वर्ष में सारे नम्बरों को नई डायरी में चढ़ा लिया करते। एक बार बड़ा मजाक रहा—उनके छात्र उनपर खूब हँसे। सेकेंड इयर क्लास के किसी २२४ रोल को अपनी डायरी में चढ़ाकर उन्होंने उसके आगे लिख लिया—Conduct to be watched। यह सच है कि वह लड़का एम० ए० तक का पास हो चुका, पर अगले वर्ष की डायरी में भी वे इतनी बात जरूर लिख लेंगे। उस डायरी में स्टीमर और ट्रेन का Arrival-Departure लिखा था, होमियोपैथिक तथा एलोपैथिक से लेकर आयुर्वेद की बूटियों के नाम भी अंकित थे। विभाग के

शिक्षकों में कौन हाज़िर हैं, कौन गैरहाजिर—यह भी लिखा रहता। कभी-कभी हाजरी तक चढ़ जाती। पुस्तकों के नाम रहते, पाठ अंकित रहते, छुट्टियों का ब्योरा लिखा रहना स्वाभाविक ही था। अब आप कल्पना कीजिए कि कहीं यदि वह डायरी दुर्योग से खो जाती तो ? डाक्टर साहब अवश्य संतुलन खो बैठते।

उनके विभाग का जब कोई अध्यापक अस्वस्थ हो जाता तो सम्पूर्ण हिन्दुस्तान की समस्या उनके सामने चली आती थी और वे कई बार Dropped लिखकर काटते और अन्त में जब वह घंटा खतम हो जाता तब वे अन्तिम बार Dropped लिखकर ऐसा पोज देते जैसे किसी अज्ञानी को ब्रह्म की विमल छाया का आभास मिल गया हो। इसी प्रसन्न मुद्रा में वे किंचित् अंग्रेजी में भाषण दे दिया करते और यह भी साफ शब्दों में कह देते कि उनके जैसा 'एनोटेशन' एक बहुत बड़े विश्वविद्यालय (जिसका नाम याद नहीं हो पा रहा है) के वाइस-चांसलर को छोड़कर भारतवर्ष में और किसी का नहीं। उनका यह भी ख्याल था कि उनके लेखों को देश के इने-गिने विद्वान् ही समझ सकते हैं। उनके छात्र या उनके सहयोगी बेचारे क्या समझते ? भाषण देने के समय भी वे इसी पीड़ा से पीड़ित रहा करते थे। अतएव, जब ऊब कर लोग उन्हें बैठाने के लिए तालियाँ पीटते, तब वे यह समझकर कि उन्होंने खूब कहा है, गद्‌गद होते। सौ बात की एक बात—वे किसी को भी अपने आगे कुछ नहीं समझते थे।

एक दिन की बात है कि डाक्टर साहब के एक भूतपूर्व सहयोगी उनसे मिलने उनके डेरे पर आये। डाक्टर साहब भीतर थे, पर सहयोगी महाशय ने Calling bell का स्विच दबा दिया; डाक्टर साहब एक हाथ में नाश्ता और दूसरे हाथ में कांटा लिए बाहर आये। सहयोगी महाशय नमस्कार-वन्दना के लिए हाथ उठा भी नहीं पाये थे कि डाक्टर साहब ने कहा—अभी मुझे छुट्टी नहीं है। ठहरो नहीं, अभी मेरे 'लंच' का वक्त है—कहते वे भीतर प्रवेश कर गये। आगन्तुक महाशय ने यह भी साफ सुना कि वे भन-भनाते हुए कह रहे हैं कि लोग समय-असमय बिना समझे स्विच दबा दिया करते हैं। लंच के वक्त विदेश में कोई ऐसा नहीं करेगा। नसीहत देने में वे आचार्य थे, समय-असमय बिना सोचे-विचारे उपदेश दे देना वे ठीक समझते थे। इसी तरह एक बार शहर के तीन साहित्यिक उनकी सेवा में उपस्थित हुए। वे तीनों मिलकर डाक्टर साहब से सहायता माँगने गये—लेख, सम्मति, ग्राहक, अग्रिम रुपये आदि आदि। डाक्टर साहब मुसकाये—बोले—'बिना पत्रिका देखे मैं कुछ नहीं करूँगा, मैं अपनी जम्मेदारी खूब समझता हूँ'। इतने ही में नौकर एक गिलास दूध लेकर हाजिर हो गया। डाक्टर साहब झपटे, गिलास पकड़ा और बोले—कमबख्त, यहाँ घुस आना चाहिए था? देखते नहीं, और लोग हैं। जब लोगों के बीच देखा तो इस तरह नहीं घुस आना चाहिए। तुम्हारी मालकिन भी तो तुम्हारी ही तरह हैं—यह कहते डाक्टर साहब पर्दे के उस पार जाकर गटागट दूध पी गये और

फिर बाहर आये। साहित्यिक धन्य होकर लौट आये—रास्ते में योजना बनाते और डाक्टर साहब को याद करते।

हर क्षण सतर्क रहने पर भी आदमी धोखा खा सकता है। डाक्टर साहब कम सतर्क नहीं थे, फिर भी, उन्हें धोखे में पड़ जाना पड़ता था। अपने को जब वे स्पोर्ट्समैन कहते तब उनकी बाँछें खिल जातीं, भुजाएँ फैल जातीं और वे अपना आधर आप पान करने लगते। इसी जोम में एक बार लड़कों के साथ फुटबॉल के फैन्सी मैच में उतर पड़े—पैंट, टाय, पायताबा बरकरार थे। संयोगवश समूचे मैच में उनके चरण-कमल को स्पर्श करने के लिए गेंद तीन ही बार आ सका। दो बार तो गेंद छूने पर उनकी मुद्रा विजेता की दीप्ति से खिल उठी, पर तीसरी बार एक छात्र ने उन्हें चारों खाने चित्त कर दिया और वे रेफरी को कम्पलेन करते ही रह गये कि It was a deliberate attempt.

डाक्टर साहब ऐसे ही थे। ऐसे ही क्यों थे—ठीक-ठीक नहीं कह सकता, पर इतना अनुमान लगाया जा सकता है कि उनको विदेशी प्रभाव ने ही अधिक असंतुलित बना दिया था। संयोग ऐसा था कि उनकी धर्मपत्नी पढ़ी-लिखी थीं। एक बार शहर की किसी संस्था के अधिवेशन में उनकी पत्नी महोदया को ही अध्यक्षता करनी थी। मीटिंग का आयोजन दोमंजिले पर हुआ था। डाक्टर साहब कार पर उन्हें पहुँचाने गये—ड्राइवर नहीं था। सभा की समाप्ति के बाद उनको घर ले जाने का सवाल था। इधर अलग कोई कार्ड उन्हें आमंत्रण का नहीं मिला था,

इसलिए उन्होंने वहां जाना युक्तियुक्त नहीं समझा। डाक्टर साहब ने निर्णय किया कि वे जबतक सभा समाप्त नहीं हो जाती, नीचे ही चहलकदमी करेंगे। डाक्टर साहब ने वैसा ही किया। एक-दो ने अनुरोध किया तो उसका उन्होंने सन्दाग शास्त्रीय प्रतिवाद किया और नहीं ही गये! धन्य था उनका धीरज!

जीवन के ताने-बाने बहुरंगे होते हैं। डाक्टर साहब का भी अपना एक रंग है---गहरा रंग, जिसपर अब किसी भी रंग का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। फिर भी, डाक्टर साहब की इस विविधता के पीछे एक निर्दोष सरलता है जिसके कारण डाक्टर साहब के चोले की मगनता जाती नहीं।

---:o:---

घोष महाशय

'वन्स अपोन ए टाइम' घोष महाशय एक सरकारी हाई स्कूल में गणित के अध्यापक थे। थे तो आई० ए० ही पास, पर के० पी० बसु का अलजबरा, चक्रवर्ती का अंकगणित, जी० बी० मित्रा का मेन्सुरेसन, ट्रिगनोमेट्री तथा हाल एण्ड स्टीवेन्स का रेखागणित, सभी उनके जिह्वाग्र थे—सवाल भी, जवाब भी। मास्टर तेज थे—खूब पढ़ाते थे, पर उन्हें पढ़ने-लिखने का कुछ भी कष्ट नहीं उठाना पड़ता था। यों भोर में दूध के साथ कच्चे अंडे खाते समय गीता पढ़ा करते और स्कूल से लौटने पर डाक संस्करण 'अमृतबाजार पत्रिका'। पर गणित में अपने ज्ञान का ओप जब लड़कों पर चढ़ाते तब संसार भर के मान्य गणितज्ञों को भी नगण्य कह देते, अकिंचन कह देते—'किच्छू जाने ना'—'डोन्ट नो एनी थिंग' आदि-आदि। शहर के अन्य गणित-अध्यापकों को भी डाँट-फटकार सुनाते रहते थे। कभी-कभी तो यह भी कह देते कि गिरिजाभूषण मिसर को क्या आता है—हम न होते तो वह मेन्सुरेसन क्या लिखता!—यानी

किताब घोष महाशय ने ही लिखी थी, केवल नाम मित्रा का था। अपनी ज्ञानगरिमा का इस तरह विश्लेषण करते समय एक किस्सा वे जरूर कहा करते। जब वे भागलपुर में थे तब एक दिन प्रातः में उनका नौकर माथे में जवाकुसुम तेल लगा रहा था, उसी समय गिरिजाभूषण मित्र पहुंचे। उनसे गणित का एक प्रश्न नहीं बन रहा था। परेशान थे। उन्होंने घोष-महाशय को देखते हुए कहा—मि० घोष, यह सवाल देखिए। मि० घोष ने देखा और सवाल बन गया। यह कहकर वे खूब खिलखिलाते और उनके छात्र यह समझते हुए कि सब झूठ है, उन्हें दांत दिखा देते थे। छात्रों पर उनका रोब गोल्डस्मिथ के 'विलेज स्कूल मास्टर' से कम नहीं था। जो कोई भी लड़का उनके साथ हिम्मत से बातचीत करता उसे धमकाते हुए कहते कि 'दिसम्बर आने दो साले, डैगर भोंक दूंगा'। उनकी इस धमकी से कितने ही छात्रों ने एडिशनल गणित राधा के लिए छोड़ दिया। पढ़ाने के समय यदि कोई यह कहता कि नहीं समझा तो उसका उत्तर वे यही देते कि—'I can not spend my precious energy for a boy dame like you. Go to लकड़ी क्लास or to Panditji's Sanskrit Class'. लेकिन स्वयं वे मिडल परीक्षा में फेल हो गये थे—जब उन्हें यह बात याद आती तब वे फेल होने का कारण, बिना कहे चुप न होते। सबसे पहले दिन गणित की ही परीक्षा थी, घोष महाशय हाल में पहुँचने पर सवाल पढ़ने के बजाय छत देखने लगे और सोचने लगे कि लोहे की इतनी बड़ी-बड़ी बीमें ऊपर कैसे चढ़ाई जा सकीं। तीन घंटे यही सोचते रह गये—प्रश्न-

पत्र छूआ भी नहीं। फलस्वरूप फेल हो गये। यही किस्सा था। वे इस किस्से को इसलिए सुना देते, क्योंकि उनका यह विश्वास था कि इसमें गणितज्ञ के मस्तिष्क की प्रारम्भिक दशा की सूचना थी।

घोष महाशय की एक विशेषता यह भी थी कि बिना गाली दिये वे वाक्य पूरा नहीं करते थे। घर में भी 'साला' का प्रयोग खूबकर किया करते और क्लास में भी संबोधन के लिए इसी शब्द का सहारा लिया करते। छात्रावास के बाबाजी और नागाजी 'साला' पर मन-ही-मन चिढ़ते, पर कुछ बोलते नहीं। एक बार पलट कर कुछ बोले भी तो साहब ने खूब जोर से 'Shut up' कह दिया—बाबाजी चुप! घोष महाशय का नाती 'आलू' भी उनके साथ रहता था। उसके नाम के पहले श्री की तरह वे 'साला' यानी साला आलू का उपयोग करते।

एक बार की बात है कि दो-तीन छात्रों को उन्होंने साला कह दिया; फिर तो लड़के बिगड़े और घोष महाशय जब पाखाने में सिगरेट पीते हुए बैठे थे तब नीचे से पाखाने की बाल्टी लेकर लड़कों ने उनके माथे पर उड़ेल दी। फिर क्या था, घोष महाशय आपे से बाहर हो गये। एक-एक कर सबको गालियाँ दीं—तब कहीं गुस्सा शान्त हो सका।

यों होस्टल सुपरिण्टेण्डेण्ट के रूप में उनका बड़ा रोब था; नीची श्रेणी के छात्रों को जब वे Little monkey chap कहते तो मोनीटर भी घबरा जाता था। मेस से नित्य उनके यहाँ भोजन के समय कुछ-न-कुछ पाबन्दी के साथ पहुँचाया जाता। उनका स्टोव

गेरा के ही तेल से नित्य जलाया जाता। एक बार मैनेजर ने रोक-टोक की तो उसे Single seated room से हटाकर Twelve seated dormetary में भेज दिया। किसकी मजाल थी कि कुछ बोले! इसलिए छात्रों को छुट्टियों के अवसर पर अपने-अपने घर से कुछ लेते आने अक्सर कहते!---किसी से खड़ाऊं, किसी से हुक्का, किसी से मछली, किसी से दही, किसी से घी--यही उनके आदेश होते। स्कूल खुलने पर जो छात्र कुछ लेकर नजर करता उसका दिसम्बर प्राय: सकुशल जरूर कट जाता। उनको यह यश भी था कि होस्टल के लड़कों का रिजल्ट उन्हीं के कारण अच्छा होता है। इसमें कोई शक नहीं कि उनके भय और आतंक के कारण लड़के पढ़ा करते थे। मजाल थी कि शनिश्चर को छोड़कर अन्य किसी भी दिन बिना उनकी इजाजत के कोई 'स्टडी पीरियड' में हाजिर न रहे। यदि उनको यह खबर मिली कि कोई सिनेमा गया है, तब तो वे 'फ्युरियस' हो जाते। प्रात:कालीन प्रार्थना के समय ही जुर्माने की घोषणा हो जाती। हां, पीछे जरूर कुछ रफा-सफा हो जाया करता। उन रुपयों का क्या उपयोग वे करते थे, कहा नहीं जा सकता! पूछनेवाला ही कौन था? सहायक सुपरिण्टेण्डेण्ट बेचारे स्वयं पस्त थे। छात्रों के अभिभावकों को भी उनसे घबराहट होती। बिना इजाजत कोई भी लड़का अपने गेस्ट को होस्टल में नहीं ठहरा सकता था। नियम की अवज्ञा करनेवाले को 'फाइन' जरूर होता। एक अतिथि से तो एक बार भयानक झगड़ा भी हो गया था। लिखा-पढ़ी तक हो गई थी। बात यह हुई कि परीक्षा का समय था, रात के

चार बजे पढ़ने की घंटी बजती थी और लड़के उठकर पढ़ा करते थे। उस रात सभी लड़के तो पढ़ रहे थे, पर एक कोठरी में एक आदमी सोया ही रह गया। घोष महाशय Round देते उसी कोठरी में आ गये। उन्होंने आव देखा न ताव, अपनी मोटी लाठी चला दी। वह फड़-फड़ाकर उठा। घोष महाशय ने जिसे लड़का समझा था, वह बड़का था। वह किसी छात्र का संरक्षक था। घोष महाशय घबराये। फिर तो दो-तरफी बातें होने लगीं। Guardian रोष में उसी समय वहाँ से चला गया। पर भोर में जब प्रार्थना होने लगी तब उन्होंने शाही फर्मान सुनाया—'Last night a monkey boarder entertaind his guest without my knowledge. So he is fined rupees ten.' और 'श्रुम' करते चले गये। यह श्रुम शब्द भी उन्हें बड़ा प्रिय था। हर सवाल बना चुकने पर क्लास में भी आँखों को मटकाकर श्रुम कहने में उन्हें बड़ा मजा आता था।

कभी-कभी बंगाल, बंगाली और बँगला भाषा की प्रशंसा भी किया करते थे, पर उन्होंने रवीन्द्रनाथ की गीतांजलि हर्गिज नहीं पढ़ी थी। उनका ख्याल था कि बंगालियों का नामकरण बड़ा ही सुन्दर होता है, अतएव, अपने नाम का विश्लेषण करते समय वे 'रसानां राजा इति—रसराजः' कहकर पाणिनि का 'राजाहः सखिभ्यः टच्' सूत्र भी पढ़ दिया करते थे और फिर मगन होकर कहते- 'बिहारिर नाम की? पलट मित्र Means to come back, मंगनी राय Means to borrow, झगड़ू मिश्र means to quarrel आदि आदि'।

एक बार की बात है कि वे एक छात्र से इसलिए क्रुद्ध हो गये थे कि उसने गंगा-स्नान प्रारम्भ कर दिया था। हेडमास्टर के रिकोमेंडेशन पर जिला कलक्टर ने उसे इनाम दे दी थी, यद्यपि घोष साहब उसके खिलाफ थे। इसलिए चिढ़कर उन्होंने गंगा को पाखाना कहना शुरू कर दिया था, क्योंकि सारे शहर की नालियाँ गंगामुखी ही थीं। हेडमास्टर, जो Northbrook से आये थे, उनके संबन्ध में कहते No, No, he has come from South brook। उनसे भी काफी रंज रहते थे।

घोष महाशय बहुत मोटे थे — बिना सवारी के एक डेग भी नहीं चलते। यों भी उठने-बैठने में बहुत दिक्कत हुआ करती थी। अतएव जहाँ भी लेटले, लेटे ही रह जाते। गर्मी का दिन था। रात में घोष महाशय अपनी चौकी नीचे बाहर लाकर सोये। ऊपर जिले की नाली सामने पड़ती थी। प्रातः में एक लड़के ने ऊपर से ही पेशाब करना शुरू किया। पेशाब की धारा उन्हीं पर गिरने लगी—पहले जोर से, फिर बूँद-बूँद। पर वे उठे नहीं—गंध से उन्होंने अवश्य समझ लिया कि पेशाब है। बड़ा गुस्सा आया, बोले—'साला, बायरा हो गया है न क्या ?' कभी-कभी स्नान करते समय कमर से जब धोती ससर जाया करती तब वे नंगे हो जाया करते थे—फिर भी, जरा न झेंपते। कभी जब सवारी नहीं मिलती तब उन्हें पैदल स्कूल जाते भी देखा था। स्कूल साढ़े दस से हुआ करता था, पर घोष महाशय साढ़े नौ में ही होस्टल छोड़ देते। अपनी मुटाई के कारण उन्हें अंत-अंत में बड़ा कष्ट झेलना पड़ा था। जिस स्कूल में

मि० घोष काम करते थे उसके हेडमास्टर साहब स्कूल से विदा हो रहे थे। कर्या-चौरा की ऊँचाई पर फोटो खिंचवाने की बात तय हुई थी, फोटोग्राफर ने वही स्थान चुना था। एक-एक शिक्षक तथा छात्र पहुँच चुके थे, पर घोष महाशय का कहीं पता न था। थोड़ी देर बाद टमटम पर अपने नाती आलू के साथ घोष महाशय पहुँचे। फोटो खिंच गया। सभी अपने-अपने घर गये। घोष महाशय टमटम पर आरूढ़ हुए। सड़क ढालू थी, घोड़ा भागा। वे ठीक से सँभल भी नहीं सके थे कि रूमाल नीचे जा गिरा। उन्होंने टमटमवाले से रोककर रूमाल लाने को कहा। वह रूमाल लाने पीछे गया ही था कि घोष साहब ने टिक्-टिक्-टिक् कर दिया—घोड़ा दौड़ पड़ा। घोष साहब अवाक् हो गये, दोनों बगल खाई थी। गरियाल कुछ काम नहीं दे रहा था। वे कूद गये, पर उनका कूदना क्या—लुढ़कना था! साथ-साथ बेचारा आलू भी कूदा। टमटम उलट कर घोष साहब पर चढ़ गया, बेचारे की देह छिल गई, फ्रेक्चर हो गया। टमटमवाले ने बड़ी मिहनत से टमटम-घोड़ा उठाया और उन्हें गड्ढे में ही कराहते छोड़ वह रफू-चक्कर हो गया। बहुत देर के बाद दो-चार लोगों ने उन्हें अस्पताल पहुँचाया और शाम तक मरहम-पट्टी कराकर उन्हें बेहोशी की हालत में होस्टल पहुँचाया गया।

होस्टल में शुश्रूषा का प्रबंध लड़कों ने अपने जिम्मे लिया, पर सबको गालियाँ देकर घोष साहब ने दूर किया। जो सहयोगी शिक्षक देखने आते उन्हें भी गालियाँ देते। हारकर लोगों ने उनके बेटों को तार भेजा। कल होकर बेटे आ गये, पर उनपर भी बौछार

शुरू हुई---Why did you come ? Who has called you etc etc. पर मेंः रह गये। अपनी उस बीमारी में ये विक्षिप्त हो गये थे और उस अवस्था में अंग्रेजी ही उनकी जबान से निकला करती। दरबान को जब वे Remove the lamp atonce कहते तब वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो बगलें झांकने लगता, पर वे 'साले, Remove it atonce'. कहना नहीं छोड़ते। मेहतर को पाखाना खा जाने का आदेश देते। अजीब ढंग था उनका। कभी-कभी जब टीस उठती तब अंग्रेजी में रोते और लोग उनका रुदन सुनकर हँसते।

बीमारी से कुछ दिनों बाद ये चंगे हुए। चंगा होने पर इन पिता-पुत्रों ने होस्टल में एक तमाशा खड़ा किया। घोष साहब अपने पुत्रों के साथ भोजन कर रहे थे। कुछ लड़के बगल में खड़े थे। चावल बड़ा महीन था, धुँए से सुगन्ध निकल रही थी। घोष महाशय ने लड़के से पूछा—जानते हो, मैं यह चावल कहाँ से मँगाता हूँ ? लड़के चुप थे। घोष साहब ने कहा---अपनी जमींदारी से। यह कहना था कि बेटे ने कहा---'जमींदारी कोथाय, जे आपनी मिथ्या भाषण करिलेन'। फिर तो वे दोनों बालि और सुग्रीव की तरह जुटकर भिड़ गये। एक ने चोटी पकड़ी और दूसरे ने गाल फाड़ देना चाहा। छात्रों ने रोक-थाम की और तब कहीं दोनों अलग हो सके।

इस डमडम-कांड से पूर्व एक बार और लोगों ने उन्हें अंग्रेजी में रोते सुना था जबकि उनके कई बच्चे एक महीने में दिवंगत हो गये थे। पीछे, उन्होंने अपना क्वाटर छोड़ दिया---उनके लिए वह

क्वार्टर अशुभ सिद्ध हुआ। क्वार्टर छोड़कर वे होस्टल के एक कमरे में चले गये। उनका विश्वास था कि होस्टल की कोठरी का किराया उन्हें नहीं देना पड़ेगा। हेडमास्टर रंज रहा करते थे, इसलिए कभी-कभी यह संदेह जरूर हो जाया करता कि किराया लग जायगा, पर लोगों से यह कहकर कि डी० पी० आई० उनका मित्र है, इंस-पेक्टर आफ स्कूल्स उनका दोस्त है, संतोष भी सोच लेते। सुननेवालों पर रोब भी जमता। लेकिन जब उन्हें किराया देना ही पड़ा तब खूब बिगड़े। कहने लगे—'साला डी० पी० आई० 'जू' है। Does not know the value of friendship आदि-आदि'।

इसी तरह अनेक मधुर स्मृतियाँ अभी भी अनेक छात्रों के मस्तिष्क में होंगी, पर सुना है कि वे संसार से सदा के लिए चले गये। भगवान उनकी आत्मा को शांति दे!

—:o:—

बूढ़ी मामा

आगे में बोरसी रक्खे, हाथ में चिलम लिये चौबीस घंटों में लगभग अठारह घण्टे तक मामा पाए के सहारे अपने दरवाजे के कोने में बैठी रहती थीं। उस राह से चलनेवाला हर आदमी कुछ सहमकर ही पाँव रखा करता था। माताएँ अपने बच्चे को छाती से चिपकाकर एवं आंचल से ढाँककर ही उस होकर जाती थीं। गाँव के बच्चे तो उधर झाँकने की भी हिम्मत नहीं किया करते थे--ऐसा उनका आतंक था। उनके इस आतंक के साथ-साथ उनके काले कुत्ते का भी आतंक कम नहीं था। भूला-भटका यदि कोई बच्चा उस राह से जाता भी तो सिर पर पाँव रखकर---कुत्ते के भूकने से उसकी गति और भी तीव्र हो जाया करती थी। मामा शरीर से एकदम निर्बल थीं--सिर के सारे केश पककर सन की तरह हो गये थे---दोनों गाल चिपककर सिकुड़ गये थे---माथे पर असंख्य झुर्रियाँ स्पष्ट दीखती थीं--फिर भी इतना रोब, इतना आतंक कि गाँव भर त्रस्त था।

उनका यह आतंक इतना भयानक क्यों था यह जानने की इच्छा होना स्वाभाविक है। बात यह थी कि वह डायन थीं---लोगों में भ्रम था कि उनके पास असंख्य भूत थे---जो उनके घर के पिछवाड़ेवाले नीम के गाछ पर रहा करते थे---संभवतः पत्ते-पत्ते पर भूत थे। दशहरे के अवसर पर अष्टमी की रात में वह बड़े-बड़े पीपल के पेड़ों को ही वाहन बनाकर चला करती थीं---यह गलत-फहमी भी कम नहीं थी। शाम को यदि पर्यटन-क्रम में वह किसी के आँगन में पहुँचतीं तो दुलहिनें छिप जाया करती थीं---किवाड़ की ओट से उनकी झाँकी लिया करती थीं और परिवार की अन्य बड़ी-छोटी महिलाएँ उनसे खुशामद भरी बातें किया करती थीं। कभी-कभी यदि कोई माँ अपने बच्चे के साथ [illegible] पकड़ा जाती तो उनसे उसे छू देने की प्रार्थना अवश्य किया करती थी। और उनके छू देने पर राहत की साँस लिया करती थी। फिर भी असंख्य बच्चों के विकलांग हो जाने का, तथा उनकी असामयिक मृत्यु का कलंक उन्हीं पर मढ़ा जाता था। गाँव में यद्यपि वही एकमात्र डायन नहीं थीं तथापि उनका लोहा और सभी मानती थीं। मामा के भूतों ने और सभी डायनों के भूतों को कई बार पछाड़ दिया था। हाँ, सुग्गा दीदी एक ऐसी जरूर थीं जिनसे मामा भी कभी-कभी परास्त होती रही थीं; नहीं तो गुलबा माय, पूरन बहू, मखना माय, होड़बा बहू, टिभना माय आदि सभी हार चुकी थीं। गाँव के ओझाओं का भी मामा के सामने कभी भी कुछ नहीं चल-बन सका था। मामा का एकाध भूत तो इतना जिद्दी, इतना आज्ञाकारी और इतना कट्टर था कि

सारे-के-सारे मंत्र उनके सामने मन्द पड़ जाते थे। एक बार तो उनके भूत ने ओझा जी की दाढ़ी में आग धुँधुआ दी थी और उसी भूत के निर्देशानुसार उस औरत को बदरीनारायण तक की यात्रा करनी पड़ी थी।

यह तो ठीक है कि शैतान जान नहीं लेता, परेशान करता है; पर मामा का भूत तो लगानो के रुपये भी वसूल लाया करता था। एक बार की बात है कि एक नई दुलहिन को मामा ने भूत लगा दिया। उस भूत ने उस बेचारी को बड़ा कष्ट दिया—हर सप्ताह 'फिट' पर 'फिट' आता रहा। डाक्टरों ने पूरे पैसे लिये, पर मुआयना में भूत के बदले हिस्टीरिया का नाम ही उचरता रहा। परिवार भर इस भूत-खेल से हैरान था। भूत से प्रश्न पूछे जाने लगे—घर में मिरचाई जलाई गई—उसे तंग किया गया, पर वह टस-से-मस नहीं हुआ। फिर प्रार्थना-विनती की गई और तब उसने कहा कि इनके घरवालों ने मामा के घी के हिसाब में से इकावन रुपये ले लिये हैं। यदि ये रुपये उन्हें दे दिये जायँ तो मैं तुरत चला जाऊँगा। मामा बुलाई गईं—उनके हाथ में रुपये रक्खे गये—उन्होंने दुलहिन को माथा हाथ दिया—भूत स्वस्थान चला गया—पिछवाड़ेवाले नीम के गाछ पर ही गया होगा। इन बातों से मामा का पराक्रम पराकाष्ठा पर पहुँच गया और वे शिष्या बनाने लगीं। गाँव की डायनों में उतना बड़ा शिष्य-संप्रदाय और किसी को भी नहीं था और न है। पर डायनपन सीखने में बड़ा त्याग करना पड़ता है—इसीलिए मामा ने दक्षिणा में किसी से बेटा लिया, तो

किसी से पति, तो किसी से आँख-कान। उक्त लीला करनेवाली शिष्या प्रायः विकलांग या विक्षिप्त हो जाया करती थी।

मामा की इन शिष्याओं को समय-समय पर परीक्षा भी देनी होती थी। कोई भी गुरु बिना परीक्षा लिये अपने शिष्य की योग्यता पर कैसे विश्वास कर सकता है। फलस्वरूप मामा की शिष्याएँ कभी कौआ मार देतीं, तो कभी किसी को लँगड़ा बना देतीं। इस तरह परीक्षा पास कर लेने पर ही वे मामा के मन्त्रों का प्रयोग सार्वजनिक जीवन में किया करती थीं। अपनी शिष्याओं की करामात से उन्हें बड़ा हर्ष होता—बड़ा सन्तोष होता।

मामा के परिवार के बच्चों को खेल में भी कोई कुछ कहने की हिम्मत नहीं किया करता; क्योंकि ये बच्चे स्वयं मामा की छाया में रहते थे। डायन की गोद में खेलनेवाला बच्चा निरापद रहा करता है—ऐसी तो कहावत भी है।

मामा में और चाहे जो हो, पर एक बड़ी विशेषता यह थी कि वह संत-सेविका थीं। रमते साधुओं को गाँव भर में यदि कहीं आश्रय था तो वह मामा का ही घर था। मामा उन्हें खिलातीं-पिलातीं, दान-दक्षिणा देतीं और इस तरह उनका पूरा सत्कार किया करतीं। मामा ईश्वर में भी आस्था रखती थीं। पर यह सब केवल अपने मंत्रों को अचूक बनाने के ही साधन थे। उनके अचूक एवं सुतीक्ष्ण मंत्रों से हर कोई घबराता था—अंग्रेजी अमलदारी से भी उतनी घबराहट लोगों को नहीं थी। अब मामा नहीं रहीं—वे निश्चय ही अपने भूतों के साथ कहीं-न-कहीं रम रही होंगी। उनकी मृत्यु के कुछ

दिन पूर्व जब गांधीजी ने अंग्रेजों से आजादी के लिए युद्ध ठाना था तो इच्छा होती थी कि मामा से कहूँ कि पंचम जार्ज को अथवा इरविन को मंत्र से साफ कर दीजिए; पर मामा के प्रचण्ड आतंक के कारण यह कहा नहीं जा सका। पता नहीं, मामा के मंत्र उन पर कैसा चमत्कार दिखाते।

मामा चली गईं, पर उनका शिष्य-सम्प्रदाय आज भी गाँव में कायम है। समय-समय पर इनके चमत्कार भी देखने को मिल जाते हैं, पर इनके भूतों के सशरीर दर्शन अभी तक नहीं हो सके। हाँ, इतना अवश्य मालूम हुआ है कि हर भूत के पाँव का पंजा पीछे और एड़ी आगे रहती है—वह 'उज्जर दपदप' कपड़ा पहनता है तथा कुछ पूछे जाने पर हठात् अदृश्य हो जाता है।

—:०:—

रामू : पानवाला

कालेज के हाते के उत्तरवारी किनारे पर रामू की एक छोटी-सी दूकान थी—वह पान, बीड़ी, सिगरेट, सलाई बेचा करता था। उस आस-पास में और कोई दूकान नहीं थी। रामू के ठीक बगल में झाड़ू की एक दूकान जरूर थी, पर वहाँ टोस्ट, चाय, अंडे मिला करते थे। दोनों दूकानें एक दूसरे की पूरक थीं और रामू तथा झाड़ू की दोस्ती भी गहरी थी। अब एक युग से भी अधिक हो गया, पर रामू की सूरत भूली नहीं है। छोटा-नाटा आदमी, मुड़ा माथा जिसकी खुट्टियों से तेल ललाट पर चूता-सा, मुलुर-मुलुर ताकनेवाली उसकी छोटी-छोटी पीली आँखें, प्रमेह के रोगी-जैसा रामू पान खाकर गाल फुलाए, चौकी पर बैठकर पान लगाता हुआ, पान माँगनेवाले हर बाबू को 'अच्छा न' कहता हुआ बड़ी निपुणता से दूकान चला लेता था। पता नहीं, अब वह क्या करता है? पर एक मित्र कह रहे थे कि उसने एक छोटा-सा प्रेस भी खोल रखा है। यह जब मैंने सुना तबसे उसकी निपुणता मेरी दृष्टि में और बढ़

गई है। अब रामू मुझे पहचान सकेगा या नहीं, कह नहीं सकता; पर पिछली बार जब मैं संयोग से उधर होकर जा रहा था तब वह पहचान गया और पान खा लेने का आग्रह लेकर मुस्कराता हुआ सामने खड़ा हो गया। मैंने पान खाकर पैसे दे दिये जिसे उसने थोड़ा संकोच दिखाते हुए ले भी लिया और अपनी संदूकची के कटे छेद में डालकर आगे का काम करने लगा।

पान की दूकान का धंधा तुरत फायदा पहुँचानेवाला रोजगार सिद्ध हो चुका है। आप चाहे जिस भी दूकान पर जाइए, कुछ-न-कुछ सजावट जरूर देखिएगा। बड़े-बड़े शहरों में तो पान की दूकानों पर बाजाप्ता रेडियो तक लग गये हैं; पर शहर से दूर, कालेज के एक छोर पर अवस्थित रामू की दूकान में न तो रेडियो ही है और न कुछ सजावट ही। सजावट के नाम पर भर कमर का ऐनक टँगा हुआ है जिसमें सूरत निहारकर अपनी सूरत के प्रति ही शंका हो उठती है कि क्या मैं ऐसा ही हूँ? दो-तीन टीन की कुर्सियाँ और एक औंधी-सीधी बेंच हैं जो धमककर बैठते ही टूट जायँ। इसीलिए रामू का खर्च कम है, आमद ज्यादा।

दिन में दस बजे दूकान बंद कर एक थाली में पान की लगी हुई खिल्लियाँ लिये हुए रामू नित्य (रविवार को छोड़कर) होस्टल आ जाया करता था और घूम-घूमकर पान बेचा करता था। उधार लेनेवालों को उनकी गैरहाजिरी में भी पान देकर हिसाब बैठाता। कालेज उठते-उठते रामू फिर उसी दूकान पर आ बैठता। शाम को लड़के नाश्ता आदि करके शहर जाने के लिए तैयार हो रामू की

दूकान पर आते और पान खाकर टाइम की प्रतीक्षा किया करते। कभी-कभी तो शाम में उसकी दूकान पर लड़कों की पूरी भीड़ इकट्ठी हो जाया करती - लड़के गाना-गाते की मंडली में रह। पहुँचते और रामू हर मंडली को पान देता चला जाता।

हमलोगों के एक मित्र थे जो नित्य साथ टहला-घूमा करते थे, पर पान के प्रति उन्हें कोई आग्रह नहीं था - कोई देता तो लेकर खा जाया करते। उन्होंने भूलकर भी रामू को पान लगाने का आदेश नहीं दिया था। किन्तु रामू ने जब महीनवारी उधार का चिट्ठा लगाया तो उन मित्र के नाम पर भी पैसे गिरे। उन्हें बड़ा अचरज हुआ, पर पैसे उन्होंने दे दिये। इस घटना के बाद वे पान खाने लगे और सिगार भी खाने लगे। रामू के पीछे वे लग गये— उसके हिसाब को गलत साबित करने को उन्होंने ठान लिया। दूसरे महीने जब चिट्ठा लगा तब रामू की कलई खुल गई। रामू उधार लेनेवालों पर एक विलक्षण ढंग से पैसे चढ़ाया करता था। सात लड़के की मंडली में कोई एक ही पान लगाने का आदेश उसे देता था और वह चौदह खिल्लियाँ विनम्र भाव से सातों में बाँट देता था तथा प्रत्येक के नाम पर साढ़े तीन आने टाँक लेता था। इस तरह साढ़े तीन आने की जगह एक खाता में ही वह एक रुपये साढ़े आठ आने बना लिया करता था। यही चालाकी थी। जब अधिक पैसे का लोभ सिर पर चढ़ आता है, तब आदमी चीखने लगता है और ईमान को ठेला मारकर निर्लज्ज अर्जन में लीन हो जाता है।

अब सोचता हूँ कि सीधा-सादा रामू पैसों के मामले में कितना चतुर सुजान था ? तभी तो वह एक प्रेस का भी मालिक बन बैठा है। पता नहीं, उसके प्रेस को उसकी इस चतुराई से कितना लाभ होता है ? रुपये में तीन अठन्नी बनानेवाली प्रवृत्ति को छोड़ रामू में अन्य गुणों का अभाव नहीं था। उसकी दूकान में पान खाकर कितने लड़के अब हाकिम-हुक्काम हो गये जिनमें से कुछ के नाम भी उसे कंठाग्र हैं। मैं उसका भला चाहता हूँ; क्योंकि पान उसने बड़े प्रेम से खिलाया था, पैसे भले ही कुछ अधिक लगे हों।

—:०:—

नानी

लड़के उस झुनकुट बूढ़ी ग्वालिन को जिसके एक-एक केश सन की तरह उजले हो गये थे, नानी कहा करते थे। वह होस्टल में पहुँची कि नानी-नानी की आवाज कई कोठरियों से एक-साथ निकल जाती। वह भी कुछ-कुछ भनभनाती प्रत्येक कोठरी के द्वार पर पहुँच ही जाती --कभी थाली में माखन की गोलियाँ लिये और कभी सेरहा कटिया में घी भरकर। उसका कहना था कि उसका घी और माखन दोनों शुद्ध ही नहीं, विशुद्ध हैं। सचमुच उसकी चीजें प्रशंसा के लायक होती थीं। प्रशंसा मैं इसलिए कर रहा हूँ कि तब डालडा का व्यापक प्रसार नहीं था। उसे सरकारी मान्यता भी नहीं मिली थी। जनता की घ्राणशक्ति तबतक विकृत नहीं हुई थी। लोग अच्छे घी और खराब घी का अन्तर समझ जाते थे। घर में घी आया तो खाने के समय नानी की सूरत सामने आ गई।

एक बार किसी ने उसके पति की बात पूछी तो वह बिगड़ उठी, पर एक क्षण में ही उसकी आँखों में आँसू उमड़ आये—

अतीत के प्रणय का राग स्मृति बनकर झर-झर बहने लगा। वह काँप-काँपकर कहने लगी कि बाबू क्या बतायें! उसके चले जाने के बाद मैंने कितनी मुसीबतें झेलीं—सगाई नहीं की, केवल उसकी याद बनाए रखने के लिए। आप सबकी दया से अब तो मैं भी चलने पर हूँ—सब-कुछ देख चुकी, बेटे-पोते सब। पर वह सुख अब कहाँ? अब तो मैं माखन बेचती हूँ, मथानी से मथकर घी निकालती हूँ और बेचकर जीती हूँ। पर जब धीरू का बाप जीवित था तो मैं पानी तक लाने के लिए बाहर नहीं निकली। आप सबकी कोठरी में फोटो देखकर जी में होता है कि मैं भी उसकी एक तसवीर खिंचवाकर रखती, पर अब तो वह होने को नहीं है। पर बाबू उसकी सूरत मुझे अभी पूरी-पूरी याद है—छोटी पर तेज आँखें, घनी भौंहें, गेहुआँ रंग और कसे हुए हाथ—मैं कभी नहीं भूल सकती। उसका रेशमी साफा जिसे बाँधकर वह कुटुम्बियों के यहाँ जाया करता था, आज भी बक्से में रक्खा है। मैं हर कार्तिक पूर्णिमा के दिन उस साफे को देख लिया करती हूँ। पर पूर्णिमा का वह चाँद हृदय में हूक पैदा कर ही देता है। हाथ में कुदाली लिये खेत से जब वह लौटता तब मैं कुदाली ले लेती और सामने एक लोटा पानी रख देती। उस समय ऐसा लगता कि मेरा यह पुरुष कितना कर्मठ है, कमा-कर खाने और खिलानेवाला। वह जबतक जीवित रहा, मेरे घर में आध मन दूध नित्य हुआ करता था, पर अब तो हाँडी भी नहीं भरती। फिर भी आपलोगों की दुआ से जी लेती हूँ।

नानी कभी-कभी मजाक भी करती—मजाक बड़ा तीखा और सटीक। उसका एक मजाक देखिए। चौदह नम्बर की कोठरी में एक बाबू थे और मैं पंद्रह में था। नानी माखन लेकर उसी में घुसी। मित्र महोदय की पीली धोती और रँगे पाँव को देख बुढ़िया बहुत प्रसन्न हुई। पर वे माखन नहीं लेना चाहते थे। नानी ने कहा—बाबू, खा लो। नई शादी की है आपने, यदि खाओगे पीओगे नहीं तो लुगाई और पढ़ाई दोनों कैसे सँभालोगे? हमलोग खूब हँसे, पर पीछे सोचा, नानी भले ही ब्रह्मचर्यावस्था को ही अध्ययनकाल नहीं समझती हो, पर इतना वह जरूर समझती थी कि पढ़ने में मिहनत पड़ती है और नई दुलहिन को संतुष्ट करने में भी श्रम पड़ता है। नानी ने जिस समय मजाक किया था, अन्तर के हास उसकी पपनियों पर बिखर गये थे। होस्टल के सभी छात्र नानी से नोंक-झोंक करते और वह सबसे बड़ी कुशलतापूर्वक निपट लेती।

लेकिन कभी-कभी वह बिगड़ती भी थी। महीना समाप्त होने पर जो लोग बाकी पैसे देने में टाल-मटोल करते उनपर दुर्गा की तरह कड़कती—कहते-कहते यहाँ तक कह देती कि इसका बाप बेईमान है, मुँह जो लगता है! पर कभी किसी ने नानी की इस गाली का बुरा नहीं माना। पर नानी में भी एक बहुत बुरी लत थी। उसके मन में यह भ्रम पैठ गया था कि होस्टल के सभी लड़के उससे बेइमानी करते हैं। इसलिए जो पैसे दे भी देता उसके यहाँ भी वह तकाजा जारी रखती। जब मस्तिष्क भ्रम की घटाओं से आच्छन्न

हो जाता है तब सही गलत और गलत सही प्रतीत होने लगती है। नानी की यह भ्रम-घटा कभी फटेगी भी --इसका मुझे कोई अन्दाज अभी तक नहीं लग सका। लग भी कैसे सकता, जबकि अपनी आँखों के सामने देखा कि वह लड़के के अतिथि (Guest) से यह कहती हुई पैसे माँग रही थी कि 'पैसा-पचावे के तोहर न आदते ह।' बेचारे कहीं के जेलर थे और उसी होस्टल के एक्स-स्टुडेंट थे। उनका विस्मय और नानी का तकाजा आज भी नहीं भूला।

पता नहीं, नानी अब भी होस्टल में घी-माखन लेकर आया करती है या मर गई ? यों तो किसी भी परिचित की मृत्यु दुःखद होती है, पर मैं सुनना यही चाहता हूँ कि वह चल बसी। क्योंकि यदि वह परलोक नहीं सिधारी होगी तो घिसेट में होगी। उसका घिसे में रहना मैं नहीं चाहता, क्योंकि वह अपनी जिन्दगी ठान-बान से जी रही थी। ठानबान से जीनेवालों का ठानबान से ही मरना भला होता है।

शकूर का बच्चा

शकूर का घर गाँव के एक छोर पर मस्जिद के बगल में था। बाँग देनेवाले मुल्ले की आवाज सबसे पहले उसी के कान में पहुँचा करती थी। उसको खुदा और उसकी खुदाई में पूरी आस्था थी। इसलिए धर्म और ईमान उसके साथ थे।

वह थोड़ा-थोड़ा हकीम भी था, नाड़ियों की पहचान भी अच्छी थी। बुखार में तुलसी के पत्तों का काढ़ा देना और सर्दी उपवास में बताना—यही उसका प्रशस्त इलाज था। गाँव के लोग उसे हकीम साहब कहते थे। अगर कोई डाक्टर शहर से पैसेवालों की बीमारी में आता तो उसे पूरे पैसे मिलते थे, पर शकूर को किसी ने कभी एक धेला भी नहीं दिया होगा। शकूर के सभी काम खुदा के भरोसे थे।

पर एक बार अपने एकमात्र बच्चे के बीमार होने पर उसे बड़ी तकलीफ उठानी पड़ी। दिन-रात जागकर उसने तीमारदारी की, पर कोई दवा नहीं दी। उसकी दवा से उसका बच्चा अच्छा

हो सकेगा—ऐसा विश्वास उसे नहीं हो सका। डाक्टर कैसे लाये—यह एक अहम मसला था, क्योंकि उसके पास तो एक धेला भी नहीं था। और डाक्टर तो बिना पैसे के दवाखाने से बाहर निकलते ही नहीं। गाँव में डाक्टर के आने की बात तो कोई कह गया, पर शकूर ने सुनकर भी उसे अपने घर ले आने की बात नहीं सोची। एक घटवाल दूसरे घटवाल से नाव का भाड़ा नहीं लेता—ऐसा कहा जाता है, पर क्या डाक्टर उसे हमपेशेवर समझकर रियायत करता? गैर-मुमकिन था। शहर के डाक्टर मानवता की नहीं, पूँजी की सेवा करनेवाले होते हैं न!

शकूर ने लाचार होकर बाँग सुनते ही खुदा की दुहाई दी। सुबह होते ही पड़ोस की एक बुढ़िया को बच्चे के पास बिठाकर वह मस्जिद में आ गया। जुम्मा का दिन था—नमाज के लिए बहुत-से लोग आये थे। शकूर भी नमाज में शामिल हुआ। नमाज खत्म होते ही उसने नमाजियों की दुआ लेने के लिए झोली फैलाई। पाक लोगों की फूँकी हुई दुआओं से उसकी झोली भर गई, पर वह तबतक वहीं खड़ा रहा जबतक मस्जिद एकदम खाली नहीं हो गई। अन्त में निर्गुण खुदा को ध्यान में खींचने की कोशिश करता वह घर की ओर चला, पर घर आने पर उसने बुढ़िया को जोर-जोर से सिसकते देखा। उसकी आँखों में भी सूआँ निकल आए और वह पछाड़ खाकर गिर पड़ा।

—:o:—

एक दिन : एक रात

एक दिन उस पार जाना था। निश्चित समय से पैंतीस मिनट पूर्व ही मैं जहाजघाट पहुँचा पर सूचना मिली कि जहाज आधी गंगा पार कर चुका है—सूचना देनेवाला हँसा भी। उसका हँसना अच्छा नहीं लगा। इधर रिक्शे में पैसे बर्बाद करने का कष्ट अलग था।

थोड़ी देर घाट पर कुछ-कुछ सोचता-झुँझलाता रहा—फिर लौटने का रास्ता पकड़ा। एक-दो सज्जन और मुँह लटकाये साथ लौटे, कहने लगे—जहाज़ 'प्राइवेट' है, इसीलिए समय की पाबंदी नहीं है। पहले जब कंपनी का जहाज चलता था तो ऐसा नहीं होता था। पैसेंजर हो या नहीं, वह नियत समय पर ही खुला करता था—उसके कर्मचारी किसी व्यक्ति की चिन्ता नहीं करते थे—वे समय की पाबंदी के कायल थे। 'सर्वसामान्य और विशिष्ट का भेद-भाव नहीं था। दूसरे ने कहा कि बड़ी-बड़ी तिकड़म से कंपनी के जहाज को यहाँ से टरकाया गया। अरे महाराज! पूँजी का चम-

रकार ही ऐसा होता है। उसने जोर से खखसकर कहा—कभी सावन-भादो की बाढ़ में इस जहाज पर उस पार जाइए तब पता लगेगा। एक बार तो मुझे रात-भर भूखे-प्यासे दियारे में रह जाना पड़ा—फिर भी हर क्षण प्राण संकट में था। सोचता था, यदि डूबा तो राज्यपाल के हमदर्द शब्द परिवार को सान्त्वना दे ही देंगे।

मैं चुपचाप सारी बातें सुनता जा रहा था और पाँव कचहरी की ओर बढ़े चले जा रहे थे कि बीच ही में समवेत जय की ध्वनि सुनाई पड़ी—और जब समूह के निकट पहुँचा तो पता चला कि विधान-सभा-निर्वाचन की मतगणना में एक कांग्रेसी जीत गया – साथवाले सज्जन ने सुनते ही कहा कि अब और पाँच वर्ष यह जहाज समय से पूर्व छूटता रहेगा और पाँच सावन प्राण-संकट के सावन होंगे।

× × ×

एक रात पड़ोस के एक बड़े लोग के यहाँ यज्ञ हो रहा था—यज्ञ का प्रयोजन उस घर के एकमात्र उत्तराधिकारी के संकटों का निवारण था। यज्ञ के प्रधान सूत्रधार एक साधु थे। साधुजी ने उसकी माँ के निकट यह घोषणा की कि उसके बच्चे पर शत्रु मारक मंत्र चला रहे हैं—वह इस संसार में केवल अड़तालीस दिन ही रह सकेगा। श्रद्धालु माँ का मातृत्व उमड़ पड़ा। उसने महात्माजी से इस संकट से बचा देने की प्रार्थना की—बाबाजी मान गये!

फिर तो महात्माजी मोटर पर लाए गये—गंगा की मिट्टी से एक पुष्ट वेदी दोमंजिले पर बनाई गई—उसपर कलश रखे गये—तोरण लटकाए गये, ध्वज गाड़े गये तथा पंचदेवताओं की पूजा हुई—पार्थिव

पूजन हुआ—महामृत्युञ्जय का जाप हुआ। और नीचे पीपल के गाछ के निकट पंचकन्याएँ स्थापित हुईं। पीपल की डाल में यज्ञोपवीत का सूत्र बाँधा गया-उसका दूसरा छोर वेदी से बाँधा गया। पूजा होने लगी। बाबाजी ने माँ से वेदिका में सोना-चाँदी, हीरा-मोती सब लाकर रखने को कहा---उन्हीं धातुओं से दिव्य-ज्योति के फूटने की बात कही गई थी---अतएव सामान्य रोशनी गुल कर दी गई और बाबाजी के निर्देशानुसार घंटे और शंख बजने लगे। बंद कोठरी के अंधकार में बाबाजी ने वेदिका-कोष से सारे द्रव्य निकाल लिये। सारा कमरा शान्त था। केवल घंटों की ध्वनि ही सुनाई पड़ती थी---सोने-चाँदी की खनखनाहट घंटों के अनुरणन के बीच खो गई।

उस अन्धकार में ही बाबाजी पीपल के निकट नीचे आये—वहीं पंचकन्याएँ थीं—बाहर दो-चार मह ढोनेवाले निरीह मजदूर थे। उन सबके माथे पर टोकरी देकर बाबाजी ने उन्हें गंगा में फेंक आने का आदेश दिया, वे चले गये। अब नीचे बाबाजी अकेले थे—ऊपर वेदिका के निकट निविड़-अन्धकार में योग-जाप चल रहे थे—घंटा बजता जा रहा था—बाबाजी के पास हजारों का माल था। स्वयं बाबाजी मजदूर हो गये—सिर पर टोकरा रक्खा और बाहर निकल गये—दोमंजिले पर बैठे लोगों ने दो घंटों में धीरज खो दिया। बिजली जलाई गई---प्रकाश में बाबाजी खो गये। जिन लोगों ने उन्हें जाते देखा उन्हें टोकने तक की हिम्मत नहीं हुई—वे सोचते ही रह गये कि यह बाबाजी है या उसकी आत्मा ?